उदयशंकर भट्ट :
व्यक्ति और
साहित्यकार

जो कुछ मै ने लिखा धरोहर है वही,
जाने कितना व्यर्थ और कितना सही।
जो कुछ सुन्दर, और सत्य देवि का दान है,
बाकी है सब व्यर्थ सृजन-अभिमान है।

उदयशंकर भट्ट

साहित्यकार-अभिनन्दन ग्रन्थमाला—३

उदयशंकर भट्ट : व्यक्ति और साहित्यकार

सम्पादक
बाँकेबिहारी भटनागर

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

प्रकाशक
हिन्दी भवन, नई दिल्ली के निमित्त
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

शाखाएँ
हौज़ खस, नई दिल्ली
१७, अशोक मार्ग, हजरत गंज, लखनऊ
चौडा रास्ता, धामानी मार्केट, जयपुर
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ

मूल्य : [redacted]
प्रथम संस्करण, अगस्त १९६५

मुद्रक
सत्यपाल धवन
दी सैण्ट्रल इलेक्ट्रिक प्रेस
दिल्ली-७

निवेदन

मैं साहित्यकार को राजनीतिज्ञ से उतना ही ऊँचा मानता हूँ जितना ऊँचा सागर-तल से हिमालय है। यही कारण कि मेरे अन्तर को गहरी चोट लगती है जब मैं देखता हूँ कि भारतवर्ष मे साहित्यकार पर राज-नीतिज्ञ रुई की फुई की तरह छाते चले जा रहे है। यह शुभ है या अशुभ, यह तो मैं नही जानता, किन्तु इसमे सन्देह नही कि साधारण-से-साधारण राजनीतिज्ञ के पीछे-पीछे फिरना और बडे से बडे साहित्यकार को उदासीनता की दृष्टि से देखना किसी स्वस्थ राष्ट्रीय परम्परा का द्योतक नही है।

इस से भी अधिक दुख मुझे तब होता है जब मै देखता हूँ कि जब तक साहित्यकार जीवित रहता है तब तक बहुधा उस के अस्तित्व को स्वीकार करना भी विवाद का विषय बना रहता है, और जब वह हमारे बीच से उठ जाता है, तब एकाएक हम जैसे सोते मे जाग उठते हैं और कम से कम कुछ समय के लिए उसकी विरुदावली की घनघोर वर्षा कर डालते है। अतः जीवित साहित्यकारो का सम्मान करने की एक नियमित परिपाटी डालने की आकाक्षा मेरे मन मे बहुत दिनो से रही है। यह पुस्तक उसी आकाक्षा का प्रतीकमात्र है। मैंने निश्चय किया है कि राज-धानी के हिन्दी-भवन की ओर से—जिसकी स्थापना आज से तेरह वर्ष पूर्व पडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने की और जिसके मन्त्रित्व का भार संयोगवश आजकल मेरे कन्धों पर है—कम से कम चार साहित्यकारो का अभिनन्दन प्रतिवर्ष किया जाए, जिनमे एक साहित्यकार अहिन्दी-भाषी भी हो। इस अभिनन्दन-योजना में एक ऐसी पुस्तक का प्रकाशन भी सम्मिलित है, जिससे अभिनन्दन-समारोह में भाग लेने वाले व्यक्तियो के अतिरिक्त अन्य साहित्य-प्रेमियो को भी अभिनन्दित साहित्यकार के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व की थोड़ी-बहुत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो जाए। यह पुस्तक उसी दिशा में एक नम्र प्रयास है।

इस क्रम मे अब तक 'बच्चन : व्यक्ति और कवि' तथा 'जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिंतक' नाम से दो पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं। यह तीसरी पुस्तक 'उदयशकर भट्ट व्यक्ति और साहित्यकार' मनीषी विद्वानों की सेवा मे प्रस्तुत है। इस पुस्तक की सामग्री के संकलन में मुझे श्री उदयशकर भट्ट के ज्येष्ठ पुत्र श्री प्रभाशकर से बहुमूल्य सहायता मिली है, जिसके लिए मै उनका कृतज्ञ हूँ।

इसमे अनेक विद्वानो के लेखो के माध्यम से भट्ट जी मे निहित 'व्यक्ति और साहित्यकार' को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसकी उपयोगिता कुछ अशों मे भी सिद्ध हो सकी तो मै अपने को कृतकृत्य मानूंगा।

हिन्दी-भवन, नई दिल्ली, **बाँकेबिहारी भटनागर**
३ अगस्त, १९६५

क्रम

जीवन और व्यक्तित्व



श्री उदयशंकर भट्ट अपने परिवार के साथ

यशस्वी जीवन की एक झांकी

प्रश्नकर्त्ता—डॉ० विश्वनाथ शुक्ल

[श्री उदयशकर भट्ट के यशस्वी जीवन से मै सदा से ही प्रभावित रहा हूँ। उन के सम्बन्ध मे कुछ बाते विस्तार से जानने के लिए एक दिन मैं उन के पास जा बैठा। उस समय मे ने उन से जो प्रश्न किए और उन्होने कृपापूर्वक जो उत्तर दिए उन से भट्ट जी के कर्मठ, सघर्षशील और वास्तविक अर्थों मे यशस्वी जीवन की एक अच्छी झाँकी मिल जाती है। इसीलिए उन्हे यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।]

प्रश्न—गत १४—१५ वर्षों मे अनेक बार आप से मिलने और बातचीत करने के अतिरिक्त मुझे आप के साहित्य को मनोयोग से पढने का अवसर मिला है। मै सोच नही पाता कि एक ही काल, एक ही अवस्था के साहित्यकारो मे दृष्टिकोण का अन्तर कैसे हो जाता है? क्या प्रत्येक लेखक के निर्माण मे उस के पैतृक सस्कार और वातावरण का प्रभाव प्रमुख रहता है? भौगोलिक वातावरण की बात मै मुख्यत नही मानता, शायद वह प्रभाव भी कुछ अश में रहता हो।

उत्तर—वैसे तो मनुष्य के निर्माण मे कुल, शील, सस्कार, माता-पिता के विश्वास मुख्य रूप से व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। निश्चय ही मेरे निर्माण मे भी वे सहायक हुए होगे। किन्तु व्यक्ति की चेतना, उस का सघर्ष, ऐतिहासिक और तत्कालीन वातावरण तथा विशेष विचारधारा का प्रभाव व्यक्ति के निर्माण मे कारण होते हैं। 'संस्कारात् प्रबला जाति.' के अनुसार संस्कार ही प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण रूप से विकसित होने अथवा अवकसित रहने मे कारणभूत होते है।

प्रश्न—कृपया अपने पूर्वजो के सम्बन्ध मे कुछ बताइए।

उत्तर—मेरे पूर्वज सिद्धपुर (गुजरात) से आ कर उत्तर प्रदेश के अनूपशहर नगर मे बसे। वे औदीच्य ब्राह्मण थे। सुनते हैं, कुछ समय बाद वे कर्णवास मे गंगा तट पर आ कर बस गए। यह बहुत पहले की बात है। कर्णवास के लोगो तथा अपने ही घर के बडे-बूढो से मै ने सुना है कि मेरे पूर्वज इन्दौर-नरेश की ओर से न्यायाध्यक्ष हो कर आए थे। इन्दौर-नरेश का राज्य गगा तट के इस पार तक था। कर्णवास के

आसपास चौरासी गाँवो के स्वामी थे। घर मे सस्कृतमय वातावरण की प्रधानता एवम् परम आस्तिकता होने पर भी मेरे पिता मेहता पडित फतेहशंकर भट्ट ने अंग्रेजी का अध्ययन किया। मुझे भी सस्कृतमय वातावरण मे अपना शैशव बिताने का अवसर मिला। पिता जी रेलवे मे नौकरी करते हुए पहले बम्बई, फिर अजमेर रहे। मुझे उस समय की याद है, जब वह अजमेर मे रहते थे। तब भी उन का आचार-विचार एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण का था। नियम से प्रात काल चार बजे उठ कर स्नान कर दो ढाई घण्टे तक पार्थिव-पूजन करते और उस के बाद वे यजुर्वेद का पाठ करते। खाने-पीने मे पूरा आचार-विचार था। बाजार का पान तक वह नही खाते थे। सूरदास के पद मैं जब-तब उन के मुँह से सुनता और वह भक्ति पूर्वक रामचरितमानस का पाठ भी करते थे।

प्रश्न—कृपा कर अब अपने सम्बन्ध मे भी बताइए।

उत्तर—मेरा जन्म मेरी ननिहाल इटावा मे विक्रम सम्वत् १९५४ (ई० ३ अगस्त, १८९८) मे हुआ।

प्रश्न—तो क्या आप के पूर्वजो का सम्बन्ध इधर के ही लोगो से हो गया?

उत्तर—नही, वे लोग भी गुजरात से आ कर इधर बस गए थे।

प्रश्न—आप की शिक्षा-दीक्षा और बाल्य-काल के सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से जानना चाहूँगा।

उत्तर—अवश्य! पिता जी अजमेर मे रहते थे और जब हम लोग कर्णवास आते तब कर्णवास मे मुझे सस्कृत पढाई जाती और अजमेर मे अग्रेजी भी साथ-साथ चलती। इस तरह अग्रेजी की पढाई मे विघ्न पडता। ८-९ वर्ष की अवस्था मे पुष्कर मे मेरा यज्ञोपवीत हुआ। एक वेदपाठी ब्राह्मण घर पर मुझे वेद पढाने आते। 'धातु रूपावलि,' 'शब्द रूपावलि, 'अमरकोष' और 'चाणक्य नीति' मुझे पिता जी ने कठस्थ कराए। श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को मैं शिव-मन्दिर मे सम्पूर्ण रुद्राष्टाध्यायी से शिव का अभिषेक करता। पिता जी अग्रेजी पढे होने पर भी मूलत: सस्कृत-प्रेमी थे। मेरे छोटे काका मेहता रमाशकर भट्ट कर्णवास मे ही रहते थे। वह गगा-तट पर अपनी एक सस्कृत-पाठशाला चलाते थे। काका मुझे केवल सस्कृत और पिता सस्कृत तथा अंग्रेजी दोनो पढाना चाहते थे। मैं दोनो का वाद-विवाद सुनता था। अग्रेजी स्कूल मे पढते हुए मुझे अग्रेजी रहन-सहन पसन्द आता। कभी-कभी स्कूल न जा कर मै लडकों के साथ आना-सागर (तालाब) या रेलवे स्टेशन का चक्कर लगाता। इसी तरह और भी बुरी आदते मुझ मे आ गईं। यह सब अंग्रेजी स्कूल का प्रभाव था या घर के कट्टर वातावरण की प्रतिक्रिया, यह कहा नही जा सकता। बाजार की बनी अन्न की मिठाई से परहेज और इसी प्रकार भक्ष्या-भक्ष्य का कट्टर बन्धन था। इन सब बातों की

प्रतिक्रिया यह हुई कि मेरा मन भीतर ही भीतर इस बन्धन के प्रति विद्रोह करता। उस समय आचरण का पालन मै मन से नही, भय से करता था।

प्रश्न—क्या प्रारम्भ मे किसी साहित्यकार से आप को लिखने की प्रेरणा मिली ?

उत्तर—हाँ ! पिता जी आगरा कालेज मे पढे थे। श्री रामेश्वर भट्ट उन के मित्र थे। वह कभी-कभी अजमेर जाते हुए उन के यहाँ ठहरते। उन के सब से छोटे पुत्र बदरीनाथ भट्ट का, जो उन दिनो 'बालसखा' के सम्पादक और बाद मे 'सरस्वती' के उपसम्पादक हो गए थे, मेरे ऊपर बडा प्रभाव पडा। जब मै 'बालसखा' या 'सरस्वती' मे उन का नाम पढता मुझे लगता इन से बडा शायद ही कोई होगा। मै सोचता, क्या कभी मेरा नाम भी इस तरह छप सकता है ? यह सोच कर मुझे सस्कृत की अपेक्षा हिन्दी से अनुराग होने लगता, यद्यपि उस समय तक सस्कृत में लिखने और बोलने का अभ्यास हो गया था। पिता जी के आग्रह से स्कूल मे पढते हुए मै ने क्वीस कालेज, बनारस की प्रथमा परीक्षा और मध्यमा का एक खड पास कर लिया। घर मे सस्कृत के ही अध्ययन का प्रभाव था कि चन्द्रशेखर शास्त्री के सम्पादकत्व मे निकलने वाली 'शारदा' पत्रिका मे जब-तब मेरे सस्कृत लेख निकलते। किन्तु सस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी मे मेरा प्रवेश नही था। (माता-पिता की मृत्यु के बाद की चर्चा मै अलग से करूँगा)। बनारस मे पढते हुए मैं प्राय 'शारदा'-सम्पादक के दर्शन करने जाता था। बातो ही बातो मे एक दिन उन्हो ने कहा—"संस्कृत का भविष्य अन्धकारमय है। 'शारदा' ही घाटे मे चलती है। संस्कृत के विद्वान हमारे प्रयास को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। इसे पढते तक नहीं लिखने की बात तो दूर। मै भी कहाँ तक घाटा सहूँ।" मै ने देखा, उन के चेहरे पर उदासीनता है। थोड़ी देर बाद मै ने अपने सम्बन्ध मे पूछा तो काफी देर चुप रहने के बाद वह बोले—"'हिन्दी' मे लिखो, उसी का भविष्य उज्वल है।"

मेरी जैसे आँखे खुल गई। लिखने की धुन तो थी हो। मै उन दिनों दर्शन पढ रहा था। मै ने बडे परिश्रम से 'साख्यदर्शन के कर्त्ता' नाम से एक लेख लिख कर 'सरस्वती' मे भेजा। वह १९१७ के अक्तूबर के अंक मे निकला।

उस लेख के सम्बन्ध मे पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मुझे जो पत्र लिखा वह आज भी मुझे ज्यो का त्यो याद है। वह इस प्रकार है—

"आप का लेख मिला। विषय-निर्वाचन अच्छा है, किन्तु आप ने उसे बेतरह घसीटा है। यदि मैं इसे 'सरस्वती' के अनुकूल बना सका तो

अवश्य छाप दूँगा। लिखने का और अभ्यास कीजिए।"

यह पहला लेख था। मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नही था। साथ ही उस के प्रकाशित होने पर हिन्दी मे लिखने की अदम्य प्रेरणा मिली। सस्कृत मे लिखना छोड दिया और हिन्दी मे ही कुछ न कुछ लिखने लगा।

प्रश्न—क्या युवावस्था मे किन्ही महत्त्वपूर्ण राजनैतिक घटनाओ ने भी आप के साहित्यकार को प्रभावित किया ?

उत्तर—हाँ। इसी समय असहयोग आन्दोलन चला। विदेशी वस्त्रो की होली, शिक्षा-बहिष्कार आदि कार्यक्रम उस मे सयुक्त थे। विदेशी शासन के प्रति विद्रोह के बीज पिता जी द्वारा मुझ मे बो दिए गए थे। अजमेर मे रहते बगाल के विभाजन के सम्बन्ध मे पिता जी तथा उनके बगाली मित्रो के आक्रोशपूर्ण उद्‌गार मैं सुनता रहता था—जैसे प्रत्येक बगाली विदेशी शासन को भारत-भूमि से उखाड फैंकने को कटिबद्ध हो। पिता जी भी कम उत्तप्त नही दिखाई पडते थे। जब-तब उन की वाणी अगार उगलती। मेरे ऊपर भी उस का प्रभाव पडा। असहयोग आन्दोलन जैसे कार्यक्रम ने मुझे भी उत्साहित किया। अन्य असहयोगियो के साथ मैं ने यूनिवर्सिटी का बहिष्कार किया। स्व० रामदास गौड, डॉ० भगवान्‌दास जैसे प्रोफेसर हमारे नेता हुए। उन्ही दिनो काशी-विद्यापीठ की स्थापना हुई। मै उस मे एक मित्र के पास कुछ दिनो रहा। एक सज्जन के आग्रह पर बरेली मे तिलक महाविद्यालय नाम की सस्था मे, जो ऐसे छात्रो के लिए काँग्रेस ने खोली थी, पढाने चला गया।

प्रश्न—क्या आप काग्रेस के सक्रिय सदस्य भी रहे हैं ?

उत्तर—मैं विद्यालय मे पढाने के अतिरिक्त काँग्रेस मे भी काम करता। छुट्टी के दिन दो एक मित्रो के साथ गाँवो मे काँग्रेस का प्रचार करने जाता। व्याख्यान देता, सदस्य बनाए जाते। कुछ लोग सबेरे ही प्रभातफेरी लगाते तो मैं नए-नए गीत लिख कर उन्हे देता। वे गाते। बडा उत्साह था। वह जागरण का अद्‌भुत युग था। विदेशी वस्त्रों की होली के लिए स्व० चितरजन दास के त्याग पर 'चितरजन दास' नाम से एक नाटक लिखा। उस का अभिनय हुआ। मैं ने स्वय चितरंजन दास का अभिनय किया। वह नाटक कई दिन तक खेला गया। अपूर्व उत्साह था बहुत कीमती वस्त्र जलाए जाते। मैं जिला काँग्रेस कमेटी का उपसभापति और नगर काँग्रेस-कमेटी का मंत्री बना।

प्रश्न—क्या तत्कालीन ब्रिटिश दमन-नीति से आप मे भी उग्र क्रान्तिकारी विचार जग उठे थे।

उत्तर—अवश्य। चौरा-चौरी काड के समय बरेली मे भी गोली कांड हुआ। उस समय मै डिक्टेटर था। इन्हीं दिनों स्वर्गीय पडित मोतीलाल नेहरू ने मुझे बरेली स्वराज्य-पार्टी का सयोजक भी बनाया। लाहौर के श्री

भगवती चरण वोहरा के आग्रह पर, जो भगतसिंह के सहपाठी और नेशनल कॉलेज लाहौर के स्नातक थे, मै लाहौर चला गया। अब कांग्रेस प्रचार-कार्य से हट कर, केवल कॉंग्रेस विचार-धारा का अध्येता और अध्यापक हो गया। उस कॉलेज के स्नातक भगतसिंह, भगवती चरण वोहरा, आदि के सम्पर्क मे आया। सुखदेव, यशपाल, (प्रसिद्ध उपन्यास लेखक) उसी समय के मेरे विद्यार्थी थे। कांग्रेस के साथ क्रान्तिकारी दल का सोने मे सुहागे का मिश्रण हुआ। प्रत्येक विद्यार्थी के हृदय मे देश के प्रति अदम्य उत्साह था। प्राय: रात को बारह-एक बजे तक वाद-विवाद होता रहता। उस समय मै ने भगतसिंह को निकट से जाना। उन का व्यक्तित्व ओजमय और बडा आकर्षक था। मे भी कभी-कभी इन क्रान्तिकारियों की विचारधारा मे भाग लेता। स्वय 'क्रान्तिकारी' इतिहास का गहराई से अध्ययन करता। मेरा 'क्रान्तिकारी' नाटक उसी अध्ययन का फल है। इस तरह २६-२७ साल की उम्र तक मैं कॉंग्रेस मे रहा। अब कांग्रेस-सगठन ढीला हो रहा था। विद्यार्थी कॉलेजों मे लौट रहे थे। सस्थाएँ टूट रही थी। जब-तब साम्प्रदायिक समस्याएँ विकट रूप धारण कर रही थी। एक तरह से विदेशी शासन की विजय हो रही थी। मुझे भी इधर-उधर सिर छिपाने के लिए प्रयत्न करना पडा।

प्रश्न—अभी बातचीत के दौरान मे आप ने सकेत दिया था कि माता-पिता के निधन के उपरान्त के अपने जीवन की चर्चा पृथक् से करेगे। तो क्या उस समय आप ने किसी विशेष मन'स्थिति का अनुभव किया था ?

उत्तर—हाँ। जैसा कि मैं पहले सकेत दे चुका हूँ, १३-१४ वर्ष की अवस्था में ही माता-पिता का निधन हो गया था। वह समय मेरी लाचारी और निरकुशता का समय था। इस काल मे अकल्पनीय प्रचडता से भाग्य के फलाफल मे जो देखा उस की आज कल्पना कर सकता हूँ। उत्तरी ध्रुव में ही नही, मेरे जीवन मे भी निरन्तर ३-४ साल की काली रात्रि आई। यदि सूर्य निकला भी, तो केवल मेघाच्छन्न, जैसे किनारे का दृश्य देखते-देखते किसी ने तूफानी नदी मे तैरने, डूबने या बह जाने के लिए फेंक दिया हो। इन वर्षों मे माता-पिता का सरक्षण उठ जाने तथा परिवार, के अन्य लोगो का निधन हो जाने पर घर की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। जिन से सरक्षण मिलने की आशा थी उन से मिला तिरस्कार और आक्रोश। मकान मेरे लिए खडहर थे और मनुष्य प्रेत के अट्टहास से गुँजित ककाल। सब ओर उपेक्षा और अनादर। आश्रय सड़क की धूल में गुम्फित चट्टान का टुकडा। डगमगाते पथिक के सदृश मेरी जीवन-नौका प्रवाहित हो रही थी।

प्रश्न—आपकी जीवन गाथा वडी लो महर्षक है। वैसे मैं ने अनुभव किया है कि आप की प्रवृत्ति पर्यटन की ओर बहुत है। क्या आप को लेखक बनाने में

इस यायावरी वृत्ति का भी कुछ हाथ है ?

उत्तर—हाँ, बहुत बडा। मेरे लेखक बनने मे जहाँ मेरे अध्ययन, दूसरे लेखको से प्रेरणा और अन्तर-प्रवृत्ति के स्वाभाविक रुझान का प्रभाव रहा, वहाँ सब से अधिक प्रबल रहा मेरा घुमक्कडपन। बचपन मे स्कूल जाने के लिए घर से निकलने पर रेलवे स्टेशन या बागो मे घूमने आदि की प्रवृत्ति ने मुझे उच्छृ खल बना दिया। चाँदनी रातो मे अकेले नदी-तट और बागो मे घूमना अब दूने वेग से मुझ मे उभर रहा था। घोर जगलो मे घूमता, साधुओ, यतियो की कुटियो के चक्कर लगाता, जी ऊब गया तो वहाँ से भी आगे चल देता। दूसरी तरह के लोगो मे जा बैठता। फकीरो, भिखारियो, मजदूरो के गिरोह मे जा कर उन के चरित्र, चेष्टा, रहन-सहन गाली-गलौज सुनने मे अब मुझे रस आता था।

प्रश्न—इस घुमक्कडी मे जिन चरित्रो को आप ने देखा, वे क्या आप की रचनाओ मे कही उभरे है ?

उत्तर—क्यो नही। ये सब चरित्र 'शेष-अशेष', 'लोक-परलोक', और 'एक नीड दो पछी', मेरे इन उपन्यासो मे पाठको को मिलेगे। मैं ने गाँवो की चौपार पर होने वाली आल्हा सुनते हुए राते बिताई है। मुझे ऐसे लोगो के जीवन को देख कर उस मे रस मिला है। उन के अन्तर मे पैठ कर उन का आनन्द और दु.ख देख कर मुझे आनन्द और दु ख मिला है। रास, रामलीला, नाटको मे मै ने वैसे ही अपने आप को बना कर सुख-दुःख का अनुभव किया है। मैं ने देखा, अमीरी की अपेक्षा गरीबी मे ज्यादा मस्ती है, सुख भी। एक बार हरद्वार मे श्रवणनाथ घाट बन रहा था। वहाँ मथुरा से पत्थर काटने वाले आए। वे दिन भर काम करते, रात को सब मिल कर रसिया गाते। मुझे सुनाई पडा तो मै उन के पास जा बैठा। रात के बारह बजे तक उन की मस्ती के सागर मे गोते लगाता रहा। ऐसे सैकडो अवसर आए जिन मे मैं अपनापन भूल कर उन का बन गया हूँ।

मुझे लगता है उन्ही अनुभवो, दृश्यो ने मुझे एकान्त लेखक बनने के लिए प्रेरित किया। मेरी रचना मे वैविध्य का कारण मेरा यही घुमक्कडपन है। देश-प्रेम, मानवता और सर्वोपरि व्यक्ति के अदम्य उत्कर्ष को कला के द्वारा चित्रित करना, यही मेरा ध्येय रहा है।

प्रश्न—बहुत अद्भुत ! आज्ञा दे तो एक प्रश्न और पूछूँ। कुछ अधिक व्यक्ति गत-सा है।

उत्तर—अवश्य पूछिये।

प्रश्न—अब आप क्या सोचते है और क्या चाहते हैं ?

उत्तर—मैं आप की अन्तिम बात का उत्तर पहले दूँगा। अब मेरी कुछ भी इच्छा नही है। मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। यश, धन ने मुझे कभी बेचैन नहीं किया। परिवार ठीक है। वैसे तो एषणा का अन्त नही है, किन्तु मुझे

लगता है मेरा ध्येय पूरा हो गया।

प्रश्न—इसी प्रसग मे एक बात और पूँछ लूँ। क्या आप अपने कृतित्व से सन्तुष्ट है ?

उत्तर—इस का निर्णय करना मेरा नही, आप का काम है। मै तो इतना ही कह सकता हूँ कि जो कुछ मैं ने लिखा अपनी अन्त प्रेरणा और ईमानदारी से लिखा है। वह कैसा है, कितना स्थायी है, यह परीक्षा करना काल का काम है, मेरा नही। जो पहले कह चुका हूँ, उसी को दुहरा देता हूँ—

जो कुछ मै ने लिखा धरोहर है वही,
जाने कितना व्यर्थ और कितना सही।
जो कुछ सुन्दर, सत्य देवि का दान है,
बाकी है सब व्यर्थ सृजन-अभिमान है।

× × ×

मै हूँ केवल यंत्र स्वर वही, स्रोत वह,
वीणा के स्वर से है ओत प्रोत वह।
होना मत नाराज विवश छोटा कलश,
जितना है आकार नीर उस के सदृश।

प्रश्न—क्या आप के साहित्यिक व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी कोई ग्रन्थ लिखा गया है ?

उत्तर—'नाटककार उदयशकर भट्ट' नाम से सुश्री मनोरमा शर्मा की एक पुस्तक १९६३ मे प्रकाशित हुई है।

भट्ट जी के प्रेरणाप्रद तेजस्वी जीवन और उन के महान् प्रतिभाशाली साहित्यकार से मैं अभिभूत हो चुका था। विविधता, परिमाण और गुण सभी दृष्टियो से उन का साहित्य अद्भुत है। इतना सब कुछ जान लेने के बाद एक प्रश्न और भी बाकी रह गया, लेकिन आगे पूछने का साहस नही होता था, क्योकि भट्ट जी थक गए थे। वैसे भी प्रश्न परिवार से सम्बन्धित था। अत मैं ने वह प्रश्न उन के पुत्र से पूछने का निश्चय किया। उन के परिवार मे निरन्तर आते-जाते रहने से बहुत कुछ तो मुझे मालूम ही था। फिर भी प्रामाणिकता के लिए मैं ने उन के मँझले लडके से पूछा।

प्रश्न—कृपया बताइए, आप कितने भाई-बहन है ?

उत्तर—हम तीन भाई और दो बहने है। एक बडी बहन और थी, जिन का नाम स्नेहलता था। बनारस मे विवाह के कुछ समय बाद उन का देहान्त हो गया। उनकी एक कन्या गायत्री हमारे पास रही उस का विवाह भी हो गया है। शेष दो के नाम है सतोष और उषा। दोनो के विवाह अच्छे घरो मे

होगए है। हम तीन भाई है। बडे भाई साहब प्रभाशकर जी हैं, मेरा नाम प्रमोदशकर और छोटे भाई का नाम किरणशकर है। तीनो विभिन्न स्थानो पर नौकरी पेशे मे हैं।

प्रश्न—माता जी के सम्बन्ध मे भी कुछ बताने की कृपा करेगे ?

उत्तर—माता जी तो माता जी है। वह छत्रपुर रियासत (अब जिला) के पडित बुद्धिसागर की तीसरी कन्या है। स्वभाव से धर्मात्मा वृत्ति की है। उन्होने हमारा पालन और हम पर शासन किया है। हमारे निर्माण मे उन का ही हाथ है। वह साधारण पढी-लिखी, पर अनुशासन-प्रिय है, और दयालु, दानशील और अतिथिसत्कारशीला है।

इतने मे ही मै ने देखा कि भट्ट जी की पत्नी (जिन को हम सब 'बा' कह कर पुकारते है) अपना सहज वात्सल्य बिखेरती हुई भोजन के लिए बुलाने आ पहुँची है। उस समय धन्यवाद की औपचारिकता का ध्यान भी मुझे नही रहा।

तो, यह सब तो वह है जो भट्ट जी ने स्वय कहा और बताया है। अब सक्षेप मे मैं अपनी व्यक्तिगत भावनाएँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जो भट्ट जी के सरल किन्तु तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व के अध्ययन के फलस्वरूप मुझ मे प्रादुर्भूत हुई हैं।

उपसंहार

"मैं जीवन मे सच्चाई, ईमानदारी को प्रमुख मानता हूँ। जो कुछ तुम सत्य मानते हो, साहित्य मे उसे प्रकट करो। अपने को धोखा मत दो। हो सकता है, तुम्हारे असत्-साहित्य से कुछ लोग प्रभावित हो, किन्तु सब नही, सदा के लिए नही। एक न एक दिन असत्य प्रकट होकर रहेगा।" भट्ट जी के इन विचारो ने सदा मेरा मार्ग-दर्शन किया है।

अपने साहित्य मे इस प्रकार सत्य को प्रधानता देने वाले साहित्यकार श्री उदयशकर भट्ट का व्यक्तित्व बडा ही प्रभावशाली है। गेहुँए वर्ण और मझले कद का एक युग-पुरुष। हार्दिकता और गहरे आत्म-विश्वास की आभा से मण्डित, निर्दोष, तेजस्वी और वयोवृद्ध रूप, जो क्षण-क्षण मे जीवन व्यापिनी सस्कारशीलता और व्यक्ति-वैशिष्ट्य का प्रेरक बोध प्रदान करता है। नुकीली नाक तथा ऐनक के भीतर बुद्धि और चिन्तन की दुहरी दीप्ति से युक्त, प्रभाव डालने मे समर्थ, आकर्षक नेत्र, जिन मे जीवन के गहन अनुभव का समुद्र हिलोरे लेता है। और, अनुभव की पुष्टि करती हैं चौडे फैले उन्नत ललाट पर पडती रेखाएँ, जो गर्वीली वाणी को सार्थक कर सकने मे समर्थ हैं। उसी ललाट के ऊपर स्थित, शान्त रस की आध्यात्मिकता से अपना सर्वोपरि सम्बन्ध स्थापित करने वाले श्वेत चाँदी के-से चमकते केश भट्ट जी

के व्यक्तित्व मे चार चाँद लगा देते हैं।

श्री उदयशकर भट्ट आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक यशस्वी एवं लोक-प्रिय साहित्य-स्रष्टा है। जैसा कि आप देख चुके हैं, उन्हो ने जीवन की भभकती चट्टान पर बैठ कर समाज की उपेक्षा की लपटो मे खेलते हुए अभावो का विष-पान किया है। जीवन की विषम परिस्थितियो ने भट्ट जी मे सघर्ष, त्याग और बलिदान की जो सजग क्रियात्मक धारा प्रवाहित की उस ने न केवल साहित्य मे, अपितु दैनिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन तक के विस्तृत क्षेत्र मे अपना प्रत्यक्ष प्रभाव स्थापित किया है। उसने उन के काव्य-व्यक्तित्व मे एक सहज आकर्षण का समावेश कर दिया है। उन का साहित्य सजग, क्रियात्मक एव प्रभावशील है। उस मे सममासयिक परिस्थितियो का स्पन्दन और स्वच्छन्द मनोवृत्ति का यथार्थ प्रकटीकरण प्रारम्भ से अन्त तक समाविष्ट है। स्वय भट्ट जी के शब्दों मे—"कदाचित इन्ही कारणो से मै साहित्य मे यथार्थवाद का अनुयायी बना हूँ। मेरे अध्ययन मे आँख खोल कर प्राप्त किए गए जीवन के इन अनुभवों ने विशेष योग दिया है। कदाचित् इसीलिए, मैं स्वभाव से दार्शनिक और अनुभव से प्रकृति-प्रेमी बन सका हूँ। यथार्थता ने मुझ को साहित्यिक बनने के लिए बाध्य किया है···उन्नीस-बीस वर्ष तक मेरे जीवन मे दुख के जो तूफान आए, नदी मे तिनके की तरह मै जो इधर-उधर बहता रहा, उन सब ने मुझे नया जीवन, नई प्रेरणा दी।"

यद्यपि माता-पिता के सस्कार भट्ट जी के व्यक्तित्व पर पूर्णत आच्छादित थे, तथापि चेतना जाग्रत होने पर विचारों के सघर्ष ने यह निर्णय दिया कि ये मर्यादाएँ केवल रूढि के आग्रह से प्रसूत एक प्रकार का अस्वाभाविक विकासहीन बन्धन है। उन के शब्दो मे—"साहित्य-जगत मे प्रवेश करने पर सब से पहला मेरा काम यह हुआ कि उस भीति को, उस मूढग्राह को दूर कर दूँ। रूढि, दुराग्रह की कुहेलिका मे पोषित भ्रान्त धारणाओं, परम्परा नाम से मस्तिष्क को विकृत करने वाली चेतना के तन्तुओ मे बहुमूल भ्रान्ति को मैं तोड दूँ। कदाचित् चिन्तन, स्वाध्याय और स्वय प्रस्फुटित होने वाले विवेक का मै आदर न करने पर उसी गड्डलिका प्रवाह मे बहता जो एक साहित्यिक के लिए कुम्भीपाक होता।"

श्री उदयशकर भट्ट ने अपने साहित्य के माध्यम से एक ओर व्यक्ति और समाज की गतिविधि का और दूसरी ओर जीवन-दर्शन, सस्कृति और सभ्यता का यथार्थ चित्र अकित किया है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का और प्रगतिशीलता तथा आधुनिकता के नाम पर मानसिक दासता के विरोधी चित्रो का उन्होने साहित्य मे पर्दाफाश किया है। साथ ही साथ व्यक्ति की मनोवृत्ति और इच्छाओ को उदात्त और ऊर्ध्वगामी बनाने का मगलमय सदेश दिया है; यथा—"मै ने एक बात सदा ध्यान मे रखी है कि जो कुछ लिखा जाए उस मे आत्मा की प्रेरणा तथा वस्तु के प्रति ईमानदारी हो, लेखक

और पाठक को कुछ मिले । उस की आत्मा उल्लसित हो कर ऊपर उठे। उसमे सत् के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो, उस का अध्यात्म उदित हो, क्योकि निष्ठा से की गई सरस्वती की अर्चना का प्रभाव सत् ही होगा ।" कहने का तात्पर्य है सामयिक विचारधारा से प्रभावित होने पर भी उन के साहित्य का प्रमुख स्वर है मानव-प्रेम एव मानव की महानता मे विश्वास । उस मे प्राचीन कुसस्कार और रूढियो के प्रति विद्रोह दिखाई देता है, नवीनता की कुहेलिका की ओर भी विरोध का भाव प्रदर्शित होता है। जनता का प्रतिनिधि होने के कारण भट्ट जी ने जनता की भावनाओं को वाणी दे कर साथ-साथ ऊँचे जीवन की ओर सकेत कर अपने साहित्य को सार्थक किया है। सत्य के प्रति निष्ठा और जीवन के दार्शनिक विचार उन की साहित्य-साधना की अपनी निजी विशेषता है।

अन्त मे एक बात और कहना चाहता हूँ। श्री उदयशकर भट्ट एक समर्थ कलाकार हैं। उन के परिपार्श्व मे कोई न कोई मौलिक समस्या अनुस्यूत रहती है। यद्यपि उन का दृष्टिकोण यथार्थवादी है तथापि नग्न यथार्थ या अश्लीलता से वह बराबर बचे है। उन्होने जीवन के सजीव चित्र दिए है। अपने सम्पूर्ण साहित्य मे उन्होने अपने अनुभवो का निचोड समाविष्ट किया है, किन्तु ऐसा करते समय वह कही पर भी पात्र पर हावी नही हुए है।

श्री उदयशंकर भट्ट
सच्चे ब्राह्मण : सरल, निर्लोभ और स्वाभिमानी

डॉ० नगेन्द्र

पं० उदयशंकर भट्ट मेरे साहित्यिक परिवार के वरिष्ठ सदस्य है। उन के प्रति मेरे मन मे वही श्रद्धा और स्नेह का भाव है जो अपने कुल के वृद्धजनों के प्रति होता है। दद्दा और बापू (स्वर्गीय मैथिलीशरण और सियारामशरण) के बाद दिल्ली मे अब वे ही अकेले व्यक्ति ऐसे रह गए हैं जिन के सामने मेरा मस्तक अनायास ही झुक जाता है और जिन के सान्निध्य मे अपनी 'गुरुता' (गुरु शब्द का प्रयोग यहाँ मैं महिम के अर्थ मे न कर अध्यापक के अर्थ मे ही कर रहा हूँ) के भार से थका हुआ मेरा मन लघुता के सुख का अनुभव करता है।

भट्ट जी को मैने आज से २६-२७ वर्ष पूर्व पहली बार साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन में देखा था। शिमला का सम्बन्ध उस समय पंजाब से था और सम्मेलन के अधिकारियो के मन मे जाने-अनजाने यह भाव विद्यमान था कि पजाब प्राय अहिन्दी प्रदेश ही है। अत साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष ने बड़े तपाक के साथ परिचय कराते हुए कहा—अब पजाब के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री उदयशकर भट्ट का भाषण होगा। भट्ट जी के भाषण के विषय मे तो मुझे कुछ विशेष स्मरण नही है क्योकि उस समय मुझे दूसरो के भाषण सुनने की अपेक्षा अपना लेख पढने की आतुरता ही अधिक थी, परन्तु मुझे स्मरण है कि उन के सौम्य-गम्भीर व्यक्तित्व का मुझ पर अच्छा प्रभाव पडा था। इस के बाद मेरा हिन्दी-परिषद् की गोष्ठियो मे उनके साथ सम्पर्क बढा और जल्दी ही उन के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गए।

यह विचित्र सयोग था कि आरम्भ मे मैने प० उदयशकर भट्ट को त्रिमूर्ति के अग-रूप मे ही देखा। पहले वे पजाब के साहित्यकारो की त्रिमूर्ति के अन्तर्गत प्रकट हुए जिस मे उन के अतिरिक्त अन्य दो मूर्तियाँ थी—'अश्क' और 'प्रेमी'। इस के उपरान्त मेरठ परिषद् मे भी एक त्रिमूर्ति का अनायास ही निर्माण हो गया था—प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्रीयुत उदयशकर भट्ट

और श्री रामेश्वर शुक्ल 'अचल'। अपने-अपने व्यक्तित्व-वैचित्र्य से युक्त इन साहित्यकारो की शृंखला मे भट्ट जी का स्वरूप काफी निखर कर मेरे सामने आया। फिर, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आकाशवाणी मे कवि पंत, भगवती बाबू आदि के साथ भट्ट जी से सम्पर्क हुआ और क्रमश वे दिल्ली के साहित्यिक जीवन मे रम गए। इस प्रकार उन के साथ मेरा परिचय लगभग पच्चीस वर्ष पुराना हो चुका है और आज की व्यवसायी दुनिया मे जिस व्यक्ति के प्रति मन की श्रद्धा और स्नेह शताब्दी के पूरे चरण को पार कर जाए, उस मे निश्चय ही अनेक स्थायी गुण होने चाहिए।

—'और, भट्ट जी मे—चरित्र और कला—दोनो के ही स्तर पर निश्चय ही अनेक स्थायी गुण है। वे हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी और विकासशील है, काव्य, नाटक और उपन्यास के क्षेत्र मे उन का विशिष्ट स्थान है। गीतिनाट्य के क्षेत्र मे उन का प्रतिद्वन्द्वी नही है। उधर युग के साथ-साथ कदम बढाने की क्षमता भी उनमे असदिग्ध है: वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के तीन चरणो मे हो कर गुजर चुके है और किसी भी स्थिति मे उन्होने यह अनुभव नही किया कि समय की रफ्तार उन की रफ्तार से तेज है। अपने आधारभूत मूल्यो के साथ समझौता किए बिना समय के साथ चलना कुछ मानी रखता है और कम लोग ही ऐसा कर सकते है।

व्यक्ति के रूप मे भट्ट जी अत्यन्त सौम्य और गम्भीर है। उन मे विनय और स्वाभिमान का सुन्दर समन्वय है। उन के व्यवहार मे एक खास तरह का आभिजात्य और सुथरापन है। छल छद्म से वे मुक्त हैं—उन का अन्तरग सर्वथा सरल है—इतना कि मित्र भी उन्हे धोखा दे सकते हैं। किन्तु स्वाभिमान उन का अत्यन्त प्रबुद्ध है और उस पर प्रहार होते ही भट्ट जी का ब्रह्म-तेज चमक उठता है. उस समय कोई भी लोभ या लाभ उन्हे विचलित नही कर सकता। वे वास्तव मे सच्चे ब्राह्मण है—सरल, निर्लोभ और स्वाभिमानी।

उन से सम्बद्ध अनेक घटनाओ का स्मरण मुझे है—किन्तु एक घटना बडी ही रोचक है।—आज से १५ वर्ष पूर्व जब मै और वे दोनों आकाशवाणी मे काम करते थे, हिन्दी-लेखकों का पूरा दल एक अहिन्दी-भाषी हिन्दी-लेखक से परेशान था। इस व्यक्ति का काम था एक से दूसरे की बुराई करना। यह व्यक्ति स्वय भी अपनी आदत से परेशान था और दूसरो को भी आए दिन तंग करता था। एक दिन मेरे पास आ कर वह भट्ट जी के विरुद्ध अकारण ही न जाने क्या-क्या कह गया। मैं चूंकि उसे अच्छी तरह जानता था, इसलिए मैं ने उस की बात सुनी-अनसुनी कर दी और अपने काम में लग गया। कोई दस मिनट भी न हुए होगे कि भट्ट जी का फोन मेरे पास आया और वे बोले, "नगेन्द्र जी'······जी मेरे पास बैठे हुए हैं और कह रहे हैं कि आप मेरी बड़ी बुराई कर रहे थे। मैं ने सोचा कि अच्छा है इन्ही के सामने आपसे पूछ लूं कि

मैं ने आप का क्या अपराध किया है।" मै ने कहा "पण्डित जी, अभी-अभी ये मुझ से भी यही कह कर गए है।" भट्ट जी हँस कर बोले—"इन का तो पेशा ही यह है। मै ने इन के सामने ही आप को फोन इसीलिए किया है कि शायद इन पर कुछ असर पडे।"

—पण्डित जी अपने जीवन के ६८ सार्थक वर्ष पूरे कर चुके है। उन के कलाकार की सफलता का प्रमाण है उन का अर्जित यश तथा हिन्दी-साहित्य में उन का स्थान और उन के व्यक्तित्व की सफलता का प्रमाण है हिन्दी के हर छोटे-बडे लेखक के हृदय मे विद्यमान उनके प्रति सहज स्नेह एव सम्मान। कृती जीवन के ये ही लक्षण है।

इस शुभ अवसर पर मै उन के प्रति प्रणाम निवेदित करता हूँ और उन के स्वास्थ्य और चिरायुष्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

अभिनन्दनीय भट्ट जी

श्री नरेन्द्र शर्मा

विद्या विनय से सुशोभित होती हैं, इस कथन को चरितार्थ होते देखना है तो प० उदयशंकर भट्ट को देखिए। उन की प्रतिभा बहुमुखी है, किन्तु अपने बारे मे उन का मुँह बन्द रहता है। भट्ट जी का पाडित्य उच्च कोटि का है, उन का उच्चस्थ शिष्य वर्ग इस का साक्षी है। किन्तु पाडित्य-प्रदर्शन करते हुए भट्ट जी को भला किस ने देखा है। साहित्यिको की बिरादरी मे उन्हे वरिष्ठ पद प्राप्त है। किन्तु वह इस बिरादरी मे, छोटे-बडे सब से बराबरी का नाता रखते हैं।

सृजन और साफल्य से परिपूर्ण साहित्यिक-जीवन में एक सद्‌गृहस्थ के दायित्त्व को निवाहना भी भट्ट जी की विशेषता है। सद्‌गृहस्थ के बहुमुखी दायित्त्व का एक अग आतिथ्य भी है। स्वर्गीय पूज्य दद्दा (राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त) की तरह, भट्ट जी का आतिथेय रूप भी अत्यन्त भव्य होता है। मैं अतिथि, सख्या और सामग्री के माप-तोल की बात नही कह रहा हूँ। इस विषय मे गुणात्मक दृष्टि से काम लेना चाहिये। पुराने लोगो का गुण-गाम्भीर्य दर्शनीय होता है।

आकाशवाणी से सम्बद्ध अनेक बडे-बडे साहित्यिको मे भट्ट जी सबसे पहले थे। उन से पहले आल इण्डिया रेडियो मे उर्दू के अदीब ही रहा करते थे। भारतीय स्वातत्र्य के शुभ प्रभात मे आकाशवाणी दिल्ली को अपना नीड हिन्दी साहित्यिको के बिना सूना लगा। भट्ट जी उस समय लाहौर छोड़ कर दिल्ली आये हुए थे। आकाशवाणी के आग्रह पर भट्ट जी स्वतन्त्रता की भोर-वेला मे आकाशवाणी के 'स्काईलार्क' बने। समय बीतता गया और अधिका-धिक सख्या मे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्यिक आकाशवाणी से सम्बद्ध रहने लगे। किन्तु भट्ट जी उन सब मे प्रथमागत और अग्रज माने जाएँगे।

भट्ट जी ने अत्यधिक अध्यवसाय और निष्ठा के साथ आकाशवाणी की सेवा वर्षों तक की। अतिशय परिश्रम से उन का स्वास्थ्य भी जर्जर हो गया और अत मे उन्हे आकाशवाणी की सेवा से अवकाश ग्रहण करना पडा।

भट्ट जी की साहित्यिक कृतियाँ अनेक हैं, जैसा कि उन की बहुमुखी प्रतिभा

के योग्य ही है। पुरानी और नई शैली मे लिखी हुई स्फुट कविताएँ, प्रबन्ध काव्य, पद्यनाटक, गद्य-नाटक (एकाकी और अनेकाकी), उपन्यास, कहानियाँ— साहित्य की अनेक रूप-विधाओ को भट्ट जी ने विभूषित किया है।

गुजरात का सुथरापन और उत्तर प्रदेश की भावुकता भट्ट जी के साहित्य और व्यक्तित्व मे द्रष्टव्य हैं। कर्णावती और कर्णवास का अद्भुत सयोग है उन के भाव-सस्कार मे उन की रुचि मे। पजाब भी भट्ट जी का कार्यक्षेत्र रहा है। इसलिए पजाब की जिन्दादिली भी भट्ट जी के मिजाज मे है। यो भट्ट जी का हृदय त्रिवेणी-सगम का चित्र उपस्थित करता है। हृदय उदार है और स्नेह तथा आशीर्वाद यहाँ सब को मिलता है।

भट्ट जी के साहित्य का अध्ययन करते हुए स्वाभाविक रूप से यह ध्यान आता है कि उन की दृष्टि विविध विषयो की ओर गई है। पुरातन मध्ययुगीन और नवीन, सभी युगो से उन्होने अपने विषय चुने है। उपन्यासों के लिए उन्होने विविध क्षेत्रो से अपनी कथा-भूमियो को चुना है।

इसी प्रकार आज उन के अभिनन्दन मे हृदय से सम्मिलित होने वाले व्यक्ति भी अनेक क्षेत्रो मे उपस्थित है। इस का कारण यही है कि भट्ट जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की किरणे दूर-दूर जाती हैं। भगवान करे भट्ट जी की प्रकाश-ऊर्मियाँ दिनो-दिन दूर-दूर तक फैलती जाएँ।

भट्ट जी की कुछ साहित्यिक मान्यताएं

श्री विष्णु प्रभाकर

श्री उदयशकर भट्ट उन तप.पूत साहित्यकारो मे है जो सस्कृत के वातावरण मे पले और बड़े हुए, किन्तु जिन के सृजन का माध्यम हिन्दी ही रही। निरन्तर साधना के बल पर ही वह यश के शिखर पर पहुँचे है। आधी शताब्दी से भट्ट जी साहित्य के क्षेत्र मे अपना योगदान करते आ रहे है। आज जब वह अपने जीवन के उनहत्तरवे वर्ष मे प्रवेश कर रहे है, उन का स्थान हिन्दी के मूर्धन्य कवियों, नाटककारो और उपन्यासकारो मे सुरक्षित हो चुका है। कवि और नाटककार के रूप मे उन की ख्याति बहुत पहले फैल चुकी थी। लेकिन जब उन का उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' प्रकाशित हुआ तब बहुत से आलोचक चकित रह गए। उस यथार्थवादी उपन्यास ने उनकी बहुमुखी प्रतिभा को नया कोण दिया। इसीलिए जब मैं उन से भेट करने चला तब सब से पहला प्रश्न मेरे मन मे यही उमड रहा था कि साहित्य की इन विधाओं मे स्वय उन को कौन सी सर्वाधिक प्रिय है।

ग्रीष्म अपने यौवन पर था और सरकारी आवास का वह छोटा-सा कमरा जहाँ वह अपने पुत्र के साथ रहते है, बहुत शान्त नही था। मेरे पहुँचने से पूर्व वहाँ ताश और चाय का दौर चल चुका था। टेलीफोन की घण्टी भी रह-रह कर बज उठती थी। यह टेलीफोन जहाँ एक वरदान है वहाँ शाप भी है, विशेष कर इसलिए कि पडोसियो की समय-असमय की सुख-सुविधा का भार अनायास ही कन्धो पर आ पडता है। जो दो-तीन घण्टे मैंने उन के साथ बिताए उतने समय मे उन्हे बार-बार उठ कर फोन करने वालो को यह बताना पडा कि वे आवश्यक कार्य मे लगे है, अभी किसी को बुला नही सकेंगे।

इसी बीच मे भाभी जी मेरे लिए दुग्ध मिश्रित आम का रस ले आईं। उस ने मेरे तन और मन दोनो को अपूर्व शान्ति दी। भट्ट जी भी पान-तमाखू खा कर तैयार हो गए। कुछ देर इधर-उधर की चर्चा करने के बाद मैं ने पैड संभाल लिया। समझ म नही आ रहा था कि कहाँ से शुरू करूँ कि मुझे वही प्रश्न याद आ गया जो आते समय मन मे उमड़ आया था। मैं ने पूछा—'भट्ट जी' आप साहित्य की तीनो विधाओं के माध्यम से अपने को व्यक्त करते रहे है। इन मे से कौन-सी विधा से आप को सर्वाधिक सन्तोष और सहजता का

अनुभव हुआ ?

वह तुरन्त बोले—"तीन ही विधाओ की बात आप क्यो कहते है ? मै ने तो इस से भी अधिक विधाओ को स्वीकार किया है। अमूर्त चित्रो के लिए, जो मेरी प्रारम्भिक स्थिति मे उत्पन्न हुए, मैने कविता का माध्यम स्वीकार किया। लेकिन कुछ ही समय के उपरान्त मुझे लगा कि जीवन का विशद (स्थूल) चित्रपट उपस्थित करने के लिए कविता का माध्यम सर्वोपरि नही है। उस के लिए मैं ने नाटक और उपन्यास का परिधान ग्रहण किया। केवल विचारो के लिए निबन्ध की पद्धति स्वीकार की। कहना चाहूँगा कि आवश्यकतानुसार ही सब प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए ये माध्यम मैं ने स्वीकार किए है। यहाँ तक कि कविता के क्षेत्र मे भी मैं ने मुक्त छन्द, अतुकान्त वृत्त और केवल गद्यात्मक शैली को भी अपनाया।"

मैं सहसा बोल उठा—"तब तो भट्ट जी, नई कविता आपको प्रिय होगी ?"

भट्ट जी ने उत्तर दिया—"वह बौद्धिक है, मात्र बुद्धि और विचार प्रधान। वह आज के युग की आवश्यकता हैं। मैं ने भी बुद्धि-प्रधान कविताएँ लिखी हैं। लेकिन बुद्धितत्व की कविता का अन्तिम तत्व नही है। अत आज की बौधिक कविता भी पूर्ण नही मानी जा सकती। यह भी प्रयोग ही है।"

चर्चा को आगे बढाते हुए मै ने उन्हे अज्ञेय की कविता 'साँप' सुनाई। वह बोले—"क्या तुम ने मेरी 'साँप और मैं' कविता पढी है ?"

और वह तुरन्त अपना नया कविता-सग्रह 'मुझ मे जो शेष है' ले आए और 'साप और मै' तथा 'गिरगिट औ' भाई-बन्द सुनो' ये दो कविताएँ पढ कर सुनाईं। ये कविताएँ विचार-प्रधान होते हुए भी मन को छूती है।

',साँप तुम सच्चे हो
भय है, गरल है मरण महत्तर है;
जो कुछ है स्पष्ट है,
इसीलिए अच्छे हो।
दो-दो जीभ एक बात
भय ही भय दिवस-रात।

× × ×

किन्तु मै (मनुष्य) ?
जीवन का, शान्ति-सौन्दर्य का विधाता मै,
काव्य-कला-प्राण का निर्माता कहाता मै,
कृति पर,
अपने पर इठला इतराता मैं,
भीतर से और मैं
बाहर से और मै,
जो हूँ, नही, वह हूँ

दुर्विष हूँ असह हूँ ।
साप, तुम अच्छे हो,
स्पष्ट हो, सच्चे हो ।

मूल प्रश्न पर आते हुए भट्ट जी फिर बोले—"जब-जब मैं ने प्रयाग किए तो सन्तोष के लिए किए, अभिव्यक्ति के लिए किए, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग नही किए और न मैं ने पूव और पश्चिम की ओर देखा । साधारणतया व्यक्ति मूत से अमूत की ओर बढता है, लेकिन मैं अमूर्त से मूत की ओर चला । शायद, यह हर नवयुवक मे जवानी के प्रेम के कीडो की तरह मुझ मे भी उभरा होगा । कविता के माध्यम से जो न पा सका उसे नाटक के माध्यम से पाने की चेष्टा की और नाटक के माध्यम से जो न पा मका उसे उपन्यास के माध्यम से पाने की चेष्टा की ।"

"क्या आप इसे असन्तोष नही कहेगे ?"

"नही, असन्तोष नही, यह प्रश्न गात और तीव्रता का है । एक विधा सक्षम नही हुई तो मै ने दूसरी विधा को ग्रहण किया । नाटको के क्षेत्र मे भी मैं ने अनेक प्रयोग किए । ये सब प्रयोग अभिव्यक्ति समता के लिए ही किए गए । विषय की दृष्टि से ही नही, शैलीगत प्रयोग भी मैं ने कितने ही किए है । एकाकी, नाटक, भाव नाट्य, रूपक काव्य रूपक, रग नाटक, झाँकी आदि सभी शैलियो को मैं ने अपनाया है ।"

इस व्यक्तिगत रुचि के प्रश्न के बाद मैं ने यह जानने की चेष्टा की कि भट्ट जी आज के साहित्यिक आन्दोलनो के प्रति क्या रुख रखते है। डरते-डरते मैं ने पूछा—"आधुनिक साहित्य के, विशेषकर कहानियो के, सम्बन्ध मे मैं आप के विचार जानना चाहूँगा ।"

भट्ट जी के ओठो पर व्यग्यभरी हँसी उभर आई । बोले—"उसे रहने ही दीजिए । व्यक्तिगत रूप से मै तो अब भी आधुनिक हिन्दी के बजाय बगला कहानियाँ पढना पसन्द करता हूँ । बुरा न मानिए, आज की तथाकथित हिन्दी कहानियो मे मुझे कोई उपलब्धि नही मालूम होती । कहानियो मे कुण्ठाओ की पहले भी चर्चा होती थी । पर उद्देश्य उन को पराभूत करने का रहता था । जब कि आजकल उन को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है । या कहूँ, इतना पुराना हूँ, आप कह सकते हैं कि इस प्रवृत्ति को समझना ही नही ।"

"अच्छा, जाने दीजिए । यह बताइए कि अपने युग मे क्या आप ने अनुभव किया कि आप कुछ नया दे रहे है यानी वह कुछ दे रहे हैं जो आप के पूववर्ती साहित्यकार देने मे अक्षम थे ?"

वह सहसा विचार मे पड गए । युगो जैसे दो क्षण मौन रहने के बाद वह दृढ स्वर मे बोले—"मैं इस प्रश्न को इस रूप मे स्वीकार करता हूँ कि अपने युग के अनुकूल और आवश्यकता के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति और लेखक देता है । मैंने यह कभी अनुभव नही किया कि मैं कुछ नया दे रहा हूँ ।

जो कुछ मैंने अनुभव किया वही दिया। मै पूववर्ती लेखको की अक्षमता स्वीकार नही करता। उन्होने जो कुछ दिया वह आज भी अपूर्व है। मै ने जो कुछ दिया है, उस के सम्बन्ध मे निश्चयपूवक कुछ भी कहना कठिन है। काल उस की कसौटी है। जो उपयोगी होता है वही रह जाता है। वही रह जाएगा। मै ने कभी अपने लेखक को गर्वित होने का अवसर नही दिया।"

"क्या आप ने कभी अनुभव किया कि आप के पूववर्ती साहित्यकारो को अब लिखना बन्द कर देना चाहिए, क्योकि वे युग बोध के सन्दभ मे चूक गए है।"

"युग-बोध शब्द जीवन के साथ-साथ चलता है। नये मूल्य हमारे जीवन मे नए प्रश्नो के रूप मे आते है। निश्चय ही पुराने लोग पुराने युग-बोध को ही स्वीकार कर सकते थे। यह स्वाभाविक भी है। आज के युग-बोधी लेखक कल बासी हो जाएँगे, क्या मै गलत कह रहा हू ?"

"यानी आप इसे पीढियो का सघष मानेंगे, अर्थात् नए मूल्यो और जन्मते मूल्यो का सघष ?"

उन्होने निर्णयात्मक स्वर मे कहा—"पीढियो का सघष तो है ही। नया युग-बोध नई पीढी का है। आज के परिवर्तित होते सामाजिक, आर्थिक प्रश्नो के साथ जैसे नई पीढी जुडी हुई है, उसी प्रकार पुरानी पीढी के सामने तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक मूल्य थे। कुछ भी कहिए, सजग व्यक्ति अपने युग से प्रभावित होता ही है।"

"अच्छा, क्या आप परम्परा से मुक्ति सम्भव मानते है ?"

"परम्परा से यदि आप का तात्पर्य तज्जन्य विकृति और रूढियो से है तो मुक्ति निश्चय ही मिलनी चाहिए, लेकिन यदि आप का तात्पय चेतना और स्वच्छ सस्कारो की परम्परा से है तो उसे छोड कर हम लगडे और अन्धे ही हो सकते है।"

"इस का अर्थ मै यह समझू कि आप सस्कृति को प्रवाहमान मानते है ?"

वह बोले—"हाँ, सस्कृति तो सदा जीवन की तरह प्रवाहमान होती है। चेतना यानी पूर्वार्जित ज्ञान की चेतना यदि नष्ट हो जाती है तो हम कैसे जी सकते हैं। कोई भी जाति केवल नए मूल्यो के अनघड आधारो पर नही जी सकती।"

मै ने कहा—"अमेरिका नया देश है। उस के पास सस्कृति की कोई पुरानी परम्परा नही है ।"

वह एकाएक बोल उठे—"कैसे नही है ? नाना देशो से आ कर लोग अमेरिका मे बसे। अपने साथ वे अपने-अपने देश की सास्कृतिक परम्परा ले कर आए। उन्ही का समन्वित रूप उन की 'नई सस्कृति' बना। जीवन मे नया कुछ नही है। पुराने से मिल कर ही नया बनता है। प्राचीनता से युक्त ही नया बनता है। सघन रात्रि के बाद सूर्योदय होता है। प्रकाश एकदम नही हो जाता। पहले वह अन्धकार से मिश्रित होता है, फिर धीरे-धीरे उस

से अलग होता हैं। सन्ध्या को फिर वही प्रकाश धूमिल होने लगता है। सस्कृति भी इसी प्रकार नाना रूप लेती है।"

विषय को नया मोड देने के प्रयत्न मे मै ने पूछा—"अच्छा, भट्ट जी, क्या आप मानते है कि साहित्यिक 'क्षण विशेष' मे रहता है? अथवा वह हर क्षण साहित्यिक है?"

वह बोले—"प्रत्येक साहित्यिक हर क्षण साहित्य का सृजन नही करता, केवल विशेष क्षणो मे ही वह सजक बनता है। शेष क्षणो मे वह साधारण व्यक्ति है। उस के राग-द्वेष, काम-क्रोध, सब साधारण जन के समान ही रहते है। किन्तु ऐसे भी व्यक्ति हैं जो चौबीसो घण्टे साहित्यिक वातावरण मे जीते है। जैसे, तुलसी, सूर या दूसरे महाकवि। मै मानता हूँ कि क्षण विशेष के साहित्यिक का सृजन पूरा समय तक साहित्यिक बने रहने वालो की अपेक्षा कमजोर होता है।"

मैने कहा—"फ्रास के एक कवि 'फ्रैंकोय विलो' का नाम तो आप ने सुना होगा? वह घृणित से घृणित अपराध करने मे तनिक भी नही झिझकता था। उस को जब फाँसी की सजा हुई तब बादशाह लुई ग्यारहवे ने उसे यह कह कर क्षमा कर दिया कि फाँसी देने के लिए तो बहुत से उस जैसे दोषी मिल सकते हैं, लेकिन उस जैसा दूसरा महान् कवि नही मिलेगा? क्या आप उसे क्षण विशेष का कवि मानेंगे? उस का साहित्य क्या महान् नही है?"

भट्ट जी बोले—"विष्णु जी, उस का क्षण विशेष इतना ऊँचा होता था कि उस की सभी विकृतियाँ दब जाती थी। एक रोग होता है कि उस मे रात को उठ कर रोगी लिखता है और दिन मे कहता है कि उस ने नही लिखा। उस को हम क्षण विशेष का साहित्यिक ही तो कहेगे। वैसे यह मानस-शास्त्री का क्षेत्र है कि वह ऐसे साहित्यिको के मन का विश्लेषण कर के किसी निष्कर्ष पर पहुँचे। अद्‌भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति विपथगामी भी होते है। 'विलो' मे प्रतिभा थी, लेकिन वह विपथगामी था। यदि वह चौबीसो घण्टे साहित्यिक चेतना मे रहता तो निश्चय ही उस का साहित्य और भी महान् होता। जैसे वाल्मीकि ने २४ हजार श्लोको का महाकाव्य लिखा, वैसे ही वह भी लिखता। वस्तुत कुछ व्यक्तियो मे प्रतिभा के स्फुलिग होते है। जब वे चमकते है ता वह महान साहित्यकार होता है शेष क्षणो मे साधारण व्यक्ति रहता है।"

"क्या आप मानते है कि सत्य जैसा है वैसा ही व्यक्त होना चाहिए? उसे श्लीलता और अश्लीलता के आरोपण से मुक्त रखना अनिवाय है?"

भट्ट जी सहसा गम्भीर हो उठे, जैसे कही दूर चले गए है। बोले—"सत्य न श्लील होता है न अश्लील। वह इन परिभाषाओ मे नही आता। वह जैसा है वैसा ही निरूपण होना चाहिए। हाँ, साहित्य मे वह कला से युक्त हो कर ही चमक सकता है। यदि आप का आशय अश्लील को अश्लील रूप मे प्रकट करने का है तो भी सत्य अश्लील नही है। अश्लीलता का प्रश्न हमारे

जीवन के व्यामोह से सम्बन्ध रखता है। हमारे हृदय की कमजोरियो से वह प्रादुर्भूत होता है। नगे रहने वाले नागा साधुग्रो के लिए उन का निर्वसन रहना न श्लील है न अश्लील। ये दोनो शब्द अपेक्षाकृत है। यदि साहित्यकार गुह्य अश्लीलता को रसयुक्त बना कर और स्वय रस ले कर अश्लीलता को अपने पात्रो मे प्रतिष्ठित करता है तो वह समाज का कल्याण नही कर सकता। साहित्य अन्ततोगत्वा मनुष्य के लिए है। उस को विकसित करने के लिए, उस के हृदय को विशाल और मस्तिष्क को समृद्ध करने के लिए है।"

इस प्रसग मे मैं ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उस कविता का जिक्र किया जिसमे भिक्षु का कमण्डल राजाओ और श्रेष्ठियो के दान से नही भरता, गरीब गडरिए की लडकी के उस एकमात्र वस्त्र से भर जाता है जो वह पेड के पीछे जा कर उतारती है और कमण्डल म फेक देती है। सर गुरुदास बनर्जी ने इस कविता को अश्लील कहा था। उन की दृष्टि पेड को चीर कर लडकी के नगे शरीर पर पहुँच गई थी। यह दोष क्या कवि का है?

भट्ट जी के ओठो पर मुस्कान गहरा आई। बोले—"नही है। लेकिन मैं एक बात कहता हूँ। यदि आज का लेखक उस कविना को लिखता तो लडकी को पेड के पीछे नही ले जाता।"

मैं भी हँस पडा, लेकिन इस प्रश्न को लेकर उलझने को मन नही हो रहा था। इसलिए बोला—"अच्छा भट्ट जी, 'सत्य' युग का होता है या युगो का, यानी क्या एक युग का सत्य दूसरे युग मे सचमुच पुराना पड जाता है?'

वह बोले—"सत्य तो शाश्वत ही होता है। लेकिन उस के आश्रित जो अध सत्य या सत्याभास होते हैं वे सदा बदलते रहते हैं। ये अध सत्य या सत्याभास सामाजिक परिस्थितियो से बधे रहते है, इसलिए शाश्वत नही होते, अपेक्षित होते हैं। हम सामाजिक व्यक्ति हैं मामाजिक अध सत्यो को ही हम स्वीकार करते हैं। जसे काम शाश्वत है, लेकिन कामुकता सामाजिक। समाज गुणो का वद्धन चाहता है। यह सामाजिक सत्य है। जो युग सापेक्ष है वह धम है, सत्य नही। धम बदलता रहता है। यहाँ धम का अथ केवल धारण करना है।"

इसी सन्दर्भ मे मेरे मस्तिष्क मे आधुनिकता का प्रश्न उभर आया। मैं ने पूछ लिया—"आधुनिकता का अथ क्या पुराने को एकदम छोड देना ही है?"

वह बोले—आधुनिकता आज की चीज है। बीते कल की आवश्यकता अतीत कालीन थी। जहाँ तक आधुनिकता का प्रश्न है यह आवश्यक नही कि हर उपयोगी बात भी छोडने योग्य हो। वह उपयोगिता और फैशन के साथ है। मात्र फशन त्याज्य है, लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से सब कुछ त्याज्य नही हो सकता।"

बात करते करते काफी देर हो गई थी। केवल बीच मे टेलीफोन के कारण

व्याघात हुआ, नही तो समय का पता ही नही लगा। तीन घण्टे बीत चले थे। उठने से पूर्व मैं ने अपना अन्तिम प्रश्न पूछा, "सृजन-शक्ति और व्यावसायिक बुद्धि, इन दोनो मे क्या विरोधाभास नही दिखाई देता ?"

वह बोले—"आज का युग सजन शक्ति के साथ व्यावसायिकता को स्वीकार करता है। लेकिन सृजन-शक्ति व्यावसायिकता से ऊँची है। लेखक सृजन करते समय यदि व्यावसायिकता की चिन्ता करता है तो उस का साहित्य अपेक्षाकृत अपूर्ण रहेगा। यही कारण है कि आज जो इतना तथाकथित साहित्य सृजित होता है उस सब को 'साहित्य' स्वीकार नही किया जा सकता। व्यावसायिकता मुख्य तत्व नही है मुख्य है सृजन। लेखक का ध्येय वही होना चाहिए। व्यवसायिकता तो मात्र प्रासागिक है। साहित्य-सृजन तप है सयम है, व्यावसाय नही।"

"साहित्य ललित कला के अन्तगत आता है। ललित कलाओ के साथ उपयोगी कलाएँ भी हैं। उपयोगी कलाओ के कलाकार अर्थात् डाक्टर, इजीनियर आदि विशुद्ध रूप से व्यावसायिक हे तो साहित्यकार यदि धन की अपेक्षा रखता है तो उसे आप बुरा क्यो मानते है?"

"मैं बुरे की बात नही कहता। लेकिन साहित्य उपयोगी कलाओ की तरह एक पेशा नही है। कला के साथ उपयोगी शब्द जुड जाते ही व्यावसायिकता आ जाती है। साहित्य को उपयोगिता मे अलग रखा है ललित कला के क्षेत्र मे। ललित अर्थात् आनन्द अर्थात् हृदय के क्षेत्र मे। जो कष्ट सह कर हृदय से देता है वही हृदय को छूता है। वहाँ उपयोगिता का प्रश्न ही नही उठता साहित्यकार भूखा रह कर भी साहित्य का निर्माण कर सकता है।"

उठते-उठते कुछ देर और साहित्यिक चर्चा होती रही। चिन्तन-प्रधान और भावना प्रधान साहित्य की फिर बात चली। भट्ट जी आँसू को साहित्य की दुबलता नही मानते। उन की मान्यता है कि केवल चिन्तन दर्शन है, साहित्य नही। साहित्य है तो उस मे आवेश और आवेग अनिवाय हैं। बौद्धिक साहित्य का क्षेत्र केवल बुद्धि ही है। मस्तिष्क को कुरेदना है। अन्ततोगत्वा वह हृदय पर अपना प्रभाव छोडता है। लेकिन जो सचमुच साहित्य है वह मस्तिष्क पर आघात करके हृदय को विचलित कर देता है और आसुओ का स्थान हृदय मे ही तो है।

मन मे और भी प्रश्न उभर रहे थे, पर समय क्या किसी के लिए ठहरता है। हम उठकर बाहर आ गए। मैं धन्यवाद दे कर यही से विदा लेना चाहता था, पर वह मना करने पर भी बस स्टैण्ड तक मेरे साथ आए। सारे रास्ते सोचता आया कि उन के विचारो से मतभेद हो सकता है, लेकिन वे सोचने को निश्चय ही विवश करते हैं। उन के पीछे साधना की शक्ति है, और है अनुभव की गहराई। इसीलिए वे जितने स्पष्ट हैं उतने ही सहज है। पर आज तो युग बडी तेजी से बदल रहे हैं और जैसा कि उन्हो ने स्वय कहा, वही साहित्य शाश्वत है जो युगों को पार कर के भी जीता है।

मेरे आदरणीय मित्र भट्ट जी

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार

प० उदयशकर भट्ट को मैं बहुत समय से और बहुत निकट से जानता हूँ। पर आज जब मै यह याद करने की कोशिश कर रहा हूँ कि उन से मेरी पहली मुलाकात कब हुई, तब सन् १९२८ की गर्मियो की एक साँझ धुँधले से रूप मे मेरे सम्मुख उभरती है। मैं उन दिनो गुरुकुल काँगडी मे बौद्धकालीन भारतीय इतिहास के एक युग का अनुसन्धान कर रहा था और साथ ही 'ज्योति' नामक एक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी। दो दिनो के लिए मैं लाहौर मे गया तो वहाँ 'पीपल्स सोसाइटी' द्वारा आयोजित एक सभा मे मुझे हिन्दी साहित्य की तत्कालीन गतिविधि पर भाषण देना पडा। उस सभा मे अधिकाश लोग साहित्यिक क्षेत्र के नही थे। कुछ लोग राजनीतिक क्षेत्र के थे, कुछ अखबारनवीस और कुछ लोग ऐसे—जो हाल ही मे हिन्दी मे दिलचस्पी लेने लगे थे। उन सब मे अपने को प्रामाणिक मान कर न जाने क्या-क्या स्थापनाएँ मै ने की होगी। मेरे भाषण के बाद प्रश्नोत्तर भी हुए। दो-तीन जिज्ञासुओ के बाद एक ऐसे सज्जन खडे हुए, जो स्पष्टत लाहौर के नही थे। खद्दर की धोती, खद्दर का शुभ्र कुर्ता, गौर वर्ण, भरा हुआ रोबदार चेहरा जिस पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा लगा था। विशुद्ध हिन्दी मे उन का सुन्दर भाषण सुन कर मैं चकित रह गया। उन्होने मेरी कितनी ही स्थापनाओ का तर्क-सम्मत खण्डन भी किया। सभा के बाद मेरा उन से परिचय करवाया गया। यह थे प० उदयशकर भट्ट—लाला लाजपतराय द्वारा सचालित नैशनल कालेज मे हिन्दी के अध्यापक।

सन् १९२३ से मै स्वय लाहौर मे रहने लगा। वहाँ मै जिन लोगो के अत्यन्त निकट सम्पर्क मे आया, उन मे भट्टजी भी थे। शुरू मे मुझे बताया गया कि वह वस्तुत कवि हैं, पर पजाब मे नाटको की कद्र देख कर नाटककार भी बन गए है। कुछ आर्य-समाजी उन के कडे आलोचक भी थे। उन का पहला नाटक स्वय मुझ बहुत पसन्द नही आया था। पर जब मैं उन के निकट सम्पर्क मे आया, तब मै ने पाया कि सस्कृत के इस पडित मे असाधारण ग्रहण-शक्ति और सूझ है। नए मे नए विचारो को वह समझने का तथा हृदयगम करने का गम्भीर प्रयास करते है। नई से नई साहित्यिक प्रवृत्तियो और

विधाओं मे दिलचस्पी लेने वाला व्यक्ति सदा नए-नए प्रयोग करेगा ही।

भट्ट जी के साथ भी यही हुआ। उन के शुरू के नाटक ठोक पीट कर लिखे गए प्रतीत हुए थे, पर बहुत शीघ्र वह अच्छे नाटक लिखने लगे। उस के बाद नाटक के क्षेत्र मे भी उन्होने वह विधा तलाश कर ली, जिस पर उन का पूरा आधिपत्य हो सकता था। भट्ट जी कवि प्रारम्भ से ही थे। नाटक के क्षेत्र मे 'गीति-नाट्य' की शैली उन्होने अपनाई और कुछ सचमुच बहुत अच्छे गीति-नाट्य उन्होने लिखे। इतने अच्छे कि हिन्दी मे अभी तक उस स्तर के गीत नाटक अधिक नही लिखे गए। कविता के क्षेत्र मे प्रारम्भ मे वह मैथिलीशरण गुप्त से प्रभावित प्रतीत होते है, पर क्रमश विकसित होते हुए बुद्धि और भावना के समन्वय से वह नवीनतम विषयो पर नवीन शैली मे लिखने लगे। उस के बाद उन्होने उपन्यास लिखने का गम्भीर प्रयास किया। प्रारम्भ मे मेरा ख्याल था कि वह अच्छे उपन्यास नही लिख पाएँगे। पर 'सागर, लहरे और मनुष्य' पढ कर मै इस बात का कायल हो गया कि भट्ट जी खासे अच्छे उपन्यास भी लिख सकते हैं। मालूम हुआ कि उक्त उपन्यास के लिए उन्हो ने कितनी ही रातें बम्बई के मछुआरो के गॉव मे बिताई थी। उस के बाद बडी सफलता से उन्होने कितने ही सफल उपन्यास लिखे। उन के उपन्यासो की विशेषता यह है कि कल्पना-बाहुल्य रहते भी वह पाठक मे न सिर्फ कौतूहल जागृत रखते है, अपितु पाठक वर्णित घटनाओ को अपने मानसिक नेत्रो के सम्मुख घटित होता हुआ देखता जाता है।

लाहौर मे चार भाषाओ के लेखक रहते थे—उर्दू, अग्रेजी, पजाबी और हिन्दी। स्पष्टत हिन्दी वालो की सख्या वहाँ सब से कम थी। हम लोगो ने वहा एक हिन्दी-समाज की स्थापना की, जिस की बैठके बहुत शीघ्र लाहौर भर के बुद्धिजीवियो मे चर्चित होने लगी। मैं इस समाज का प्रधान मन्त्री था। भट्ट जी इस सस्था की कार्य-समिति मे थे। इस समाज की साप्ताहिक बैठको मे प० सन्तराम, उदयशकर भटट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृथ्वीनाथ शर्मा, बलराज साहनी, राणा जगबहादुर सिह आदि के अतिरिक्त कृश्नचन्दर, राजेन्द्रसिह बेदी आदि भी शामिल हुआ करते थे। इस समाज की ओर से कितने ही साहित्यकारो को लाहौर मे निमन्त्रित किया गया था—निराला, बच्चन, जैनेन्द्रकुमार, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, बाबू सम्पूर्णानन्द, श्री माखनलाल चतुर्वेदी आदि।

यह हिन्दी-समाज जब बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया, तब उस के कुछ प्रमुख सदस्यो मे कितना ही परस्पर विरोध और सघर्ष भीतर ही भीतर चलने लगा। समाज मे भाग लेने वाली महिलाओ की सख्या भी काफी थी। अन्दर ही अन्दर कुछ चक्र-विचक्र इस तरह के शुरू हुए कि हिन्दी-समाज का अस्तित्व ही खतरे मे पड गया। उस परिस्थिति मे उदयशकर भटट का रुख सब से अधिक प्रशसनीय रहा। वह न किसी तरह की गुटबन्दी मे पडे और

न उन्होंने किसी की निन्दा या प्रशसा मे भाग लिया। वह अपनी ताजी रचनाएँ हिन्दी-समाज की बैठको मे सुनाते थे और साहित्यिक चर्चाओ मे भाग लेते थे। इस से अधिक दिलचस्पी उन्होने नही ली।

किसी तरह की धडेबन्दी से दूर रहना भट्ट जी के स्वभाव का अश है। सन् १९३८ मे शिमला मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। उत्तर प्रदेश के बहुत-से मुदर्रिस प्रतिनिधि रूप मे वहाँ पहुँचे थे। ये लोग टण्डन जी से नाराज थे। शायद टैस्ट बुको के मामले मे कुछ लोगो ने उन्हे सगठित किया था। पहले ही दिन जब विषय-निर्धारिणी-समिति का चुनाव होने लगा, तब इन मुदर्रिसो ने अपने बहुमत के आधार पर अपने बहुत-से लोग उस म चुनवा लिए। साधारणत विषय-समिति के चुनाव मे प्रतिनिधि लोग बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन के दृष्टिकोण का ध्यान रखा करते थे। पर शिमला मे उक्त दल टण्डन जी का विरोध करने पर उतारू था। अच्छे-अच्छे साहित्यकारो को चुनाव मे हरा कर कितने ही अज्ञात मुदर्रिस विषय-समिति मे चुन लिए गए। प० उदयशकर भट्ट का नाम मैं ने पेश किया था, पर उन्हे उक्त मुदर्रिसो से कम वोट मिले। वह जरा भी नाराज नही हुए और चुपचाप अधिवेशन मे एक ओर बैठे जैसे तमाशा देखते रहे।

विषय समिति मे ये लोग पहुँचे तो खासी सख्या मे गए, पर उन मे से एक का भी व्यक्तित्व इस लायक न था कि विषय-समिति मे तर्कों का उत्तर दे सकें। इतिफाक से उन दिनो महाकवि निराला भी सम्मेलन से तथा टण्डन जी से कुछ नाराज थे। उक्त मुदर्रिसो ने उन्हे अपना नेता बना लिया। उक्त व्यक्तियो के वास्तविक नेता कुछ कारणो से स्वय सम्मुख नही आना चाहते थे।

उन लोगो के जोर देने पर निराला जी उन के नेता बन गए। सम्मेलन पजाब मे हो रहा था, इस से हम लोग परिस्थिति से परेशान थे। टण्डन जी उक्त घटना-क्रम के लिए जरा भी तैयार नही थे। चुनाव के बाद उन्होने अपनी चिन्ता हम लोगो से अभिव्यक्त की। शिमला के स्थानीय व्यवित अपने को असहाय-सा अनुभव कर रहे थे।

इतिफाक से निराला जी और मैं एक-साथ ठहरे थे। टण्डन जी से बात-चीत कर के जब मै उन से मिला तब उन्होने पूछा—"कहाँ गए थे?"

मै ने बहुत सम्भल कर उन्हे पूरी परिस्यति बता दी। मै ने उन से यह भी कहा कि कुछ लोग आप को अपने स्वाथ साधन का उपकरण बना रहे हैं।

निराला जी ने कहा—'यह बात नही है। उन लोगो के दिल मे चाहे जो कुछ हो, मेरे द्वारा सम्मेलन का या हिन्दी साहित्य का कभी अहित न होगा। यह तो तुम्हे विश्वास है न ?"

मैंने कहा—"यह तो बिलकुल ठीक है। पर सम्मेलन मे आप का अपना बहुमत तो नही है। बहुमत तो उन लोगो का है। जो टण्डन जी को अल्प मत मे कर के सम्मेलन से उन का त्यागपत्र चाहते है। बाद मे वे आप को भी कहाँ

सहन करेंगे ?"

निरालाजी ने कहा—"यह असम्भव है। मेरी उन लोगो से पक्की बातचीत हो चुकी है। उन लोगो ने वायदा किया है कि मुझे नेता बना कर वे मेरी बात पर आचरण करेंगे। जो कुछ मैं कहूँगा, उन्हे मानना होगा।'

मै ने कहा—"महाराज, आज ही चुनाव मे जो धाँधली हुई है, उस का निराकरण आप करवाएँगे ?"

"कैसी धाँधली ?"

"आज चुनाव मे अच्छे अच्छे साहित्यकारो को हरा कर ये अज्ञात मुदर्रिस विषय-समिति मे पहुँचे है।"

"किस को हरा कर ?"

"प० उदयशकर भट्ट जैसे प्रमुख साहित्यकार को इन लोगो ने विषय-समिति मे नही आने दिया। पजाब मे यह सम्मेलन हो रहा है और पजाब का यह प्रसिद्ध साहित्यकार विषय समिति मे नही चुना गया।"

निराला जी ने उसी समय अपने अनुयायियो की मीटिंग बुलाई। मुझे भी अपने साथ रखा। लोग आए तो उन्होने बिना विशेष भूमिका के कहा—"आप लोगो ने मुझे अपना नेता बनाया है। हाल मे मुझे एक ऐसी गलती की सूचना मिली है, जो आप लोगो द्वारा आज के चुनाव मे हुई है। प० उदयशकर भट्ट जैसा पजाब का श्रेष्ठ साहित्यकार विषय-समिति के चुनाव मे आप सब लोगो के मुकाबले मे हार गया। यह शर्म की बात है।"

सब लोग चुप रहे। निराला जी ने क्षण भर की चुप्पी के बाद कहा—"मैं आप का नेता हूँ। मेरा आदेश है कि आप लोगो मे से कोई सज्जन त्याग-पत्र दे दें और टण्डन जी से कह कर उन की जगह उदयशकर भट्ट को चुनवा दिया जाएगा।"

कोई कुछ नही बोला।

मिनट भर की चुप्पी के बाद निराला जी ने कहा—"तो आप मे से कोई त्यागपत्र नही देगा ? अच्छा, मैं आप के दल के नेतृत्व से और विषय समिति से भी त्यागपत्र दे रहा हूँ। मै टण्डन जी को लिख रहा हूँ कि वह मेरी जगह प० उदयशकर भट्ट को विषय समिति मे निर्वाचित करवा दे।"

तहलका मच गया। मुदर्रिसो ने बहुत अनुनय विनय की। पर निराला जी नही माने। वह विषय-समिति की बैठको मे गए ही नही।

उधर प० उदयशकर भट्ट इस सम्पूर्ण उठा-पटक से एकदम निर्लिप्त हो कर आराम से सोने चले गए थे।

बहुत पुरानी बात है। लाहौर से कुछ साहित्यकार एक साथ कुम्भ के मेले पर होने वाले एक साहित्य-सम्मेलन मे गए थे। भट्ट जी और मै हम दोनो एक साथ रहे। कुम्भ मे भीड तो बेहिसाब थी ही। हरद्वार मे हैजा फैल गया और लाखो व्यक्ति एक साथ हरद्वार से भाग जाने को उतावले हो उठे।

हरद्वार से उन दिनो मैं बहुत अच्छी तरह परिचित था। जब स्टेशन के विभिन्न बाडो मे हजारो-लाखो व्यक्ति एक तरह से भेडो की तरह बन्द थे, हम दोनो को रेलवे स्टाफ की कृपा से मुख्य प्लेटफार्म पर पहुँचा दिया गया।

प्लेटफार्म पर मैं रेलवे के एक अधिकारी से बातचीत मे व्यस्त था कि भट्ट जी टहलते हुए जरा आगे निकल आए। कुछ ही देर मे वह तेजी से वापस आए। उन के चहरे पर गहरी व्यथा और करुणा की स्पष्ट छाप थी। इस से पूव कि वह कुछ भी कहते, मैं ने उन से पूछा—"क्या बात हैं भट्ट जी ?"

उन्होने कहा—"ओह, कितना भयकर दृश्य है! जरा आगे चल कर देखिए।"

भट्ट जी के साथ मैं आगे बढा। रेलवे अधिकारी ने कहा भी—"अच्छा हो अगर आप लोग उधर न जाएँ। पर हम दोनो ने उस की बात अनसुनी कर दी। हम दोनो वहाँ पहुँचे, जहाँ लोहे के ऊँचे सीकचो के पीछे करीब ५० हजार व्यक्तियो की भीड जैसे कैद थी। एक महा भयकर सत्रास जैसे वातावरण ही मे व्याप्त था। उस का कारण समझ आने मे देर नही लगी। भट्ट जी वही देख कर अत्यन्त व्यथित हुए थे। उस भीड मे कितने ही हैजे के केस थे, जिन्हे भीड मे से अभी तक हटाया नही गया था। हैजे के चिन्ह, उन लेटे हुए अभागो के आसपास स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। मालूम हुआ कि भीड मे कुछ समय पूव से हैजा फूट निकला है। हम लोग रेलवे-अधिकारियो का ध्यान इस ओर खीचने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकते थे। अधिकारियो ने बताया कि बीमारो को सक्रामक रोगो के हस्पताल मे ले जाने का प्रयत्न हो रहा है, पर सडको पर भीड इतनी है कि वह काम भी आसान नही है। फिर बहुत-से बीमार वहाँ जाना भी नही चाहते। ये लोग जहाँ ठहरे थे, वहाँ से स्थान खाली कर स्टेशन पर आ गए थे। सो यह समस्या बहुत विकट बन गई है।

—कुछ ही दिनों बाद मनुष्य की असमर्थता पर एक अत्यन्त शक्तिशाली कविता उन दिनों भट्ट जी ने लिखी थी। उस युग मे भट्ट जी ने मानव की कुण्ठाओ और समस्याओ पर कितनी ही शानदार कविताएँ लिखी।

भट्ट जी आज अपने जीवन के ६८ वष सम्पूण कर रहे हैं। जीवन मे उन्होने बहुत ऊँच-नीच देखा है। पर मैं अपने को इस बात का गवाह मानता हू कि सब मिला कर उन का चरित्र और उन की देन—दोनो पूरी तरह निमल हैं।

सरल, निष्कपट और विनोदप्रिय

डा० गोवधननाथ शुक्ल

बात आज से २८ वष पूर्व की है। मैं ग्वालियर मे बी० ए० का छात्र था। एक छात्रा को पजाब की 'रत्न' परीक्षा के पाठ्य-क्रम मे 'अम्बा' नाटक पढाते समय उसी मे मुझे एक वाक्य मिला—"परात्पर रूप मे रहने वाले तू भी तो पुरुष ही है।" बस, यह वाक्य मन-बुद्धि मे पूरी तरह समा गया। कान मे नाटक की प्रधान-नायिका अम्बा की यह उक्ति आज तक गूज रही है। नारी के पक्षसमथन मे मुझे अब तक कही भी इस से अधिक ओजस्वी वाक्य पढने को नही मिला था। भट्ट जी की एक काल्पनिक सबल मूर्ति मानस मे तभी से पैठ गई थी। उस समय मैंने यह कल्पना भी नही की थी कि उन का मुझे निकट सम्पक और स्नेह मिलेगा।

सन् ४७ मे भारत विभाजित हो गया। दो राष्ट्रो का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया और लाहौर पाकिस्तान मे चला गया। अत वहाँ के साहित्यकारो का—हिन्दी अध्यापको का—क्या हुआ, न विदित हो सका, न विदित करने की चेष्टा ही की गई।

सन् ४६ मे धर्मसमाज डिग्री कॉलेज, अलीगढ मे छात्र-यूनियन का समारोह था। निमन्त्रण मुझे भी मिला था। सुना कि यूनियन का उद्घाटन करने के लिए हिन्दी के प्रसिद्धकवि एव नाटककार पडित उदयशकर भट्ट पधारेंगे। बस, दस वष पूव का वही वाक्य स्मृति पथ मे पुन घूम गया। उत्सवो मे, समारोहो मे, जाने का मुझे उत्साह नही। उस से बढ कर बात यह है कि मुझे अभ्यास भी नही। परन्तु आज जाने के लिए लालायित था, क्योकि मुझे अपने प्रिय साहित्यकार के दशन जो करने थे। धर्मसमाज के विशाल प्रागण मे खचा-खच भीड थी। विद्यार्थी उत्सुक थे एक नवयुग के प्रवत्तक कवि को देखने के लिए और नगर के विद्वान् लोग उत्सुक थे हिन्दी के एक महारथी के दशन करने के लिए। ठीक समय पर यूनियन के अध्यक्ष के साथ खद्दर के भगवे कुरते मे गौरवर्ण व्यक्ति, उन्नत ललाट, दीप्त नेत्र जिन पर काले फ्रेम का चश्मा चढ़ा हुआ था, हाथ मे छडी लिए सब के अभिवादन का उत्तर देता हुआ सरलता से न जाने कब आ कर कालीन पर मसनद के सहारे बैठ ही तो गया। बस, मैं तो साहित्य-देवता की गतिविधि देखने मे व्यस्त था, मुझे यूनियन के

कायक्रम मे न कोई रुचि थी न कोई प्रयोजन। कार्यक्रम के अन्त मे भट्ट जी का भाषण आरम्भ हुआ। वह भाषण था—आज की साहित्य-धारा की प्रगति किस ओर है, और क्यो है, और आज के साहित्यकार का कत्तव्य क्या है इत्यादि।" भाषण लिखित था, प्रत्येक शब्द अधिकारपूवक और बडे मनन एव मथन का परिणाम था। ध्वनि मे दृढता थी—"जो कुछ यहाँ मै दे रहा हू मेरी गत ३० वर्षों की साहित्य-साधना का परिणाम है, और भविष्य के हिन्दी साहित्य की प्रगति का एक प्रकार से भावी सकेत।' भाषण समाप्त होते ही मैं ने अपना परिचय दिया और घर चलने के लिए आग्रह किया। सरलता की मूर्ति भट्ट जी ने तत्काल स्वीकार भी कर लिया। बस मेरे जीवन के अनेक गौरव-पूर्ण दिनो मे से वह एक मुख्य दिवस था। भट्ट जी आए और इतने कृपालु हो कर आए, मानो वह अपने जीवन के अनेक विश्राम-स्थलो मे से किसी एक पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हो। उस दिन के बाद वह अलीगढ कई बार आए, प्राय सभी बार मेरे स्मरण करने पर। जितनी अधिक बार वह आए हर बार मुझे उन की महत्ता के दशन हुए। शशव से हिन्दी का छात्र रहा हूँ अत हिन्दी पढने-पढाने मे मुझे कवियो, नाटककारो के विषय मे आलोचना के रूप मे कुछ न कुछ कहना होता है। कक्षा मे हम जो कुछ भट्ट जी के विषय मे कहते आए, देखने मे उससे यह नितान्त भिन्न मिले। साहित्यकी भूमि भाव-भूमि है, उस मे वह अकेले ही प्रयोग करते आए है। उन का साहित्य उन के अपने अध्ययन और उस के आधार पर बने हुए उन के अपने दृष्टिकोण का परिणाम है। उन मे सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी की त्रिवेणी अबाध रूप से बहती हुई भी भारतीय सस्कृति की सुरसरि ही आगे बढ पाई है। उन की सास्कृतिक विचार-धारा (मस्तिष्क) उन के नाटको मे, हृदय उन के काव्य मे, और जीवन दशन उन के उपन्यासो मे मिलेगा। उन्होने ४७ पुस्तके लिखी हैं और ३ सम्पादित की हैं। इतना बडा साहित्यकार आज यदि किसी अन्य देश मे होता तो पहली बात यह होती कि विश्व का एक बडा भू-भाग उस से पूण परिचित होता। साथ ही उस की पुस्तको के अध्ययन के परिणाम स्वरूप कम से कम इतनी ही पुस्तके उस के ऊपर लिखी जाती। परन्तु खेद! यह भारत है, जहाँ कम से कम हिन्दी का साहित्यकार तो 'कणाद' ही रहता आया है। आज स्वय भट्ट जी को विदित नही कि उन की कौन-सी पुस्तक किस प्रकाशक के पास है, और वह उस का क्या प्रयोग कर रहा है?

भट्ट जी का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल, निष्कपट, और विनोद प्रिय हैं। घण्टो उन के पास बैठने पर भी आप उकताहट अनुभव नही करेंगे। स्वच्छता सुरुचिपूर्णता उन के निजी गुण है। अपने चतुर्दिक वह अद्योपान्त शिवम् और सुन्दरम् चाहते है। कर्णवास (जि० बुलन्दशहर) गगा तट उन के पूर्वजो की निवास भूमि है, अत उन के जीवन का प्रत्येक कण जाह्नवी के पावन जल सीकरो से मिश्रित है। अपत्य-स्नेह और अनुशासन का सुन्दर समन्वय भी आप को

उन मे मिलेगा। सब से बडी बात जो आप को मिलेगी वह यह है कि वह श्रोता ही अधिक हैं। "निज कबित्त के हि लाग न नीका" के ठीक विपरीत वह आप के ही काव्य को सुनना अधिक पसन्द करेगे। अपनी बात वह कम सुनाते हैं। माधुर्य उन के व्यग्य तक मे रहता है। श्रोता या पाठक को तिलमिला देने मे उन का विश्वास नही। अत आलोचना उन का प्रिय विषय नही। वह मुख्यत कवि और नाटककार हैं। अ० भा० रेडियो, नई दिल्ली मे हिन्दी एडवाइजर' के पद के कारण उन्हे आलोचना के क्षेत्र मे बरबस घसीटा जाता रहा। पर उन की आत्मा काव्य के लिए ही छटपटाया करती है। हाल ही मे उन के आचलिक उपन्यासो ने हि दी मे धूम मचा दी है।

नेता और नेतृत्व से सदैव भयभीत रहने के कारण वह सावजनिक कार्यों मे या तो बडो के अनुगमन मे ही विश्वास करते हैं—अथवा अलग रहते है। अत आप उन्हे अपनी ओर से आगे आते हुए नही पा सकते। हाँ, निस्तब्ध रात्रि के मौन वातावरण मे लिखते रहना भट्ट जी का प्रियतम कार्य है। उन्ही साधना के क्षणो मे वह अपने पृथक् व्यक्तित्व को सभाले रहते हैं, शेष समय वह सदैव आप के साथ हैं।

उनमे सर्पिल कुछ नहीं है

श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

जैसी हमारी प्रवृत्ति होगी वैसे ही हमारे विचार होगे। हमारी जो अपनी अनुभूतियाँ हैं, उन्ही के आधार पर भिन्न भिन्न विषयो के सम्बन्ध मे हम अपनी धारणा बनाते हैं। विचारो के निर्माण मे निजी अनुभूतियाँ जितनी सहायक होती है उतना मन्थित शोधित साक्ष्य नही। इसलिए यह कहना अधिक सत्य होगा कि हमारे विचार मूलत हमारे जीवन, हमारे आचरण और हमारी प्रवृत्तियो पर निर्भर हैं।

सन् १९५७ के १२ सितम्बर को मेरे जिद्दी साहित्यिक मित्रो ने स्वर्गीय आचाय शिवपूजन सहाय एव स्वर्गीय आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के नेतृत्व मे मेरी अर्द्धशती जयन्ती मनाई थी। उस अवसर पर भट्ट जी ने सयोजक को लिखा था—"राजनीति पोषित इस अकुलीन युग मे भी आप एक कवि की जयन्ती मना रहे है। यह आश्चय का विषय है। या तो आप पर युग का प्रभाव नही पडा है या फिर आप किसी और युग मे रह रहे हैं।"

इन दो-चार पक्तियो मे भट्ट जी ने जो विचार व्यक्त किया है उस के प्रकाश मे उनके साहित्यिक जीवन और साहित्यिक प्रवृत्तियो का अच्छी तरह अध्ययन किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि भट्ट जी ने साहिन्यिक दृष्टि से ही वतमान युग को अकुलीन कहा हैं। जिस युग मे मातृभूमि के शरीर को काट कर दो टुकडो मे बाँट दिया जाय, सास्कृतिक प्रदशन के नाम पर बहू-बेटियो को खुले आम नचाया जाए, जीवन के हर क्षेत्र मे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित किया जाए एव स्वलाभ-परायणता की वेदी पर मानवमूल्यो का हनन किया जाय उस युग के लिए अकुलीन बहुत हल्का शब्द है।

रासायनिक, वकील और चिकित्सक बनने के लिए तत्सम्बन्धी शास्त्रो का गवेषणापूण अध्ययन अनिवाय है। किन्तु राजनीतिज्ञ बनने के लिए शिक्षा-विशारद अथवा विद्याविशिष्ट होना आवश्यक नही है। आवश्यक है स्वलाभ-परायण और स्वाथ साधनतत्पर होना। राजनीतिज्ञ प्रवचना से काम लेता है और वह ईश्वर को भी धोखा दे सकता है।

राजनीति जहा अपना यह रूप दिखाती है वहाँ जीवन पवित्रता मे उस

सौन्दर्य से वचित हो जाता है जो ससार के पुन प्राणन और अनन्त शुद्धता के सावत्रिक ससाधन के लिए सतत सचेष्ट रहता है । ससार का नवसृजन एव समाज के कल्याण के लिए शुद्धता, निमलता और पवित्रता के वातावरण का निर्माण साहित्य का प्रधान उद्देश्य है । किन्तु राजनीति के चगुल मे फँसकर साहित्य अपने इस उद्देश्य को भूल जाता है। युग की हीनता, दुर्वृत्तता और अपकृष्टता इसी का परिणाम है।

कुलीनता मे शुद्धता और निमलता अतर्हित है । शुद्धता को आत्मा की सर्मपिति मानते है। वह एक शिल्प-योजना है जिस के आधार पर ईश्वर अपने प्राणमय मदिर का निर्माण करता है। भट्ट जी का साहित्यिक व्रत रहा है इसी शुद्धता की उपासना और इसी निमलता का पोषण। उनके काव्य मे आज की-सी अनास्था, अस्वस्थता, उदासीनता, अविश्वास, असामथ्य, और कुण्ठा नही मिलती। उन की मान्यता रही है कि राजनीत साहित्य का पैर पूजती है। साहित्य के लोकमगलकारी रूप को ही उन्हो ने स्वीकारा और उसी के निर्माण मे अपने हृदय का रस उँडेला।

कारलाइल ने कहा है कि ससार मे लोकमत से बढकर दूसरा असत्य नही है। लेकिन आज का साहित्यिक इसी लोकमत के लिए क्या-क्या नही करता। उस का विश्वास है कि लोकमत आदमी को महान् और शक्तिशाली बना देता है। काव्य ने भले ही कहा हो कि समूह की कृपा प्राप्त करने की कोशिश मत करो क्योकि वह बिरले अकुटिल और वैध उपायो से प्राप्त होती है। भले ही यह सत्य हो कि सुयश वही अक्षुण्ण रहता है जो योग्यता के बल पर प्राप्त हुआ है, अन्यथा वह लेख्य चूर्णिका के रेखाकन की भाति मिट जाता है, किन्तु वर्तमान युग की मान्यता इस से भिन्न है। भट्टजी ने अपने उक्त पत्र मे लिखा है " जानता हूँ कि ने और दुनियादारो की तरह बाँसो पर खडे होकर नाचने का अभ्यास नही किया, जबकि इस प्रकार के नाच काफी लोक-प्रिय है।"

भट्टजी के विचार मे साहित्यिक के लिए साहित्य सृजन एक व्रत है, एक प्रण है जो ढोल की आवाज से ज्यादा सूक्ष्म और चिरस्थायी होता है । और कविता वह नितान्त तप और साधना की चीज है ।

भट्ट जी के चरित्र मे उन की शैली मे, सर्पिल कुछ नही है । वह जितना बोलते है उतना लिखते है। लिखते हैं उतना ही जितना लिखने का मन करता है, जितने विचार उठते है । और विचारों को उन के जो शब्द धारण करते है वे शपथ की भाँति पवित्र हैं।

सुहृद्वर भट्ट जी

श्री मोहनसिंह सेंगर

भट्टजी से मेरा परिचय लगभग ३० वष पहले का है। कितु वह परिचय एक सृजनशील साहित्यकार या सबल कल्पना के कवि की अपेक्षा सुहृद भट्ट जी के साथ ही अधिक है। इसके दो कारण है पहला तो यह कि मैं साहित्य-कार एक सामान्य विद्यार्थी और अध्येता-भर रहा हूँ, कोई आलोचक-विवेचक नही। दूसरे भट्ट जी के सम्पक मे आने तक मै ने उन की बहुत कम रचनाएँ पढी थी। (अधिकाश तो उन के सम्पर्क मे आने और उन के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से प्रभावित होने के बाद ही पढने की प्रेरणा हुई)।

१६३६ की बात है। मैं लाहौर से प्रकाशित दैनिक 'शक्ति' का सयुक्त सम्पादक होकर वहाँ पहुँचा था। उन दिनो वहा हिन्दी-पत्रकारो की अपेक्षा हिन्दी के साहित्यिक अधिक थे—कुछ तो अध्यापन-काय मे लगे हुए थे और कुछ पाठ्य ग्रथो के लेखन काय मे। सो इन्ही के साथ उठते-बैठते एक दिन भट्ट जी के भी दशन हुए। इस प्रथम दशन मे ही हम दोनो जैसे एक-दूसरे की ओर आकृष्ट हुए और ऐसा लगा मानो यह कोई नई मुलाकात नही, वर्षो का घुलना-मिलना सा है। सब से बडी बात जो मुझे भट्ट जी मे लगी और जिस के कारण उस समय के लाहौर के अन्यान्य साहित्यकारो की अपेक्षा मेरा उन के प्रति अधिक आदर और अनुराग हुआ, वह थी उन की निरभिमानता, हार्दिकता, स्नेहसिक्त मृदुव्यवहार और स्पष्टवादिता। दो टूक सत्य कहने और सुनने मे मैने भट्ट जी को कभी हिचकते या उद्विग्न होते नही देखा। उन के इसी गुण के कारण कभी अकेले उन से और कभी अन्यान्य मित्रो के साथ मिलने के कायक्रम बढने लगे। फिर तो प्रति रविवार को गोष्ठी जमती, जिस मे पूरे दिन सम सामयिक साहित्य, साहित्य-कारो और व्यग्य-विनोद की चर्चा रहती। ये गोष्ठियाँ कई वर्षों तक चली और इन की सुखद याद आज भी उन दिनो का दृश्य जैसे आँखो के सामने ला देती है।

हिन्दी समाज

कुछ समय बाद हम लोगो की इस खानगी गोष्ठी के साथ ही 'हिन्दी समाज'

नाम की एक औपचारिक सस्था की भी स्थापना हुई, जिस मे उस समय लाहौर मे रहने वाले प्राय सभी हिन्दी लेखक और कवि सम्मिलित थे। इस मे भट्ट जी का हाथ और रग विशेष था, क्योकि हम सब लाहौर-प्रवासी हिन्दी वालो मे वह अधिक पुराने और लाहौर के सुधी समाज से अपेक्षाकृत अधिक परिचित थे। जो लोग इस मे आते-जाते रहे हैं, केवल वे ही जानते है कि इस तरह की स्वस्थ, सयत और उच्चस्तर की साहित्यिक सस्था हिन्दी-जगत् मे शायद ही कोई दूसरी हो। यह कोई आत्म-विज्ञापन, आत्म प्रशसा या अतिरजना की बात नही है। इस के दो कारण थे। पहला तो यह कि इस मे केवल वे ही लोग शामिल थे, जो यथाथ मे लिखने पढने मे रुचि लेते थे और गम्भीर प्रकृति के थे। दूसरे इस मे पढी जाने वाली रचनाओ की आलोचना-चर्चा का स्तर बडा सयत, सुथरा और समीचीन रूप लिए था। यही कारण था कि उन दिनो इस मे भाग लेने वाले साहित्यकार केवल इस मे पढने की प्रेरणा से नई चीजे लिखते थे और उन का यथार्थ मूल्याकन एव सराहना भी होती थी। कहना न होगा कि भट्ट जी की उस समय की अधिकाश कविताओ के सृजन के पीछे इस प्रेरणा का बडा गभीर हाथ था।

भट्ट जी हिन्दी समाज के एक प्रमुख स्तम्भ थे। वह इस मे न केवल अपनी नई रचानाएँ पढते थे, वरन् उन पर होने वाली आलोचनाओ को भी सहृदयता से ग्रहण करते थे। एकाध बार उन के मुँह से किसी नौसिखुवे द्वारा की गई अनगल या असगत आलोचना पर यह भी निकला कि "आप को कविता समझने की तमीज ही नही है।" पर ऐसे अवसर अधिक नही आते थे—और आते भी थे, तो आक्रोश अथवा आवेश के बदले व्यग्य-विनोद के परिधान मे ही अधिक होते थे। उन के द्वारा कितने नए लेखको और कवियो को प्रोत्साहन मिला है, इस की गिनती करना सभव नही। सच्चा जिज्ञासु कभी भी भट्ट जी से निराश या निरुत्साह होकर नही लौटता था।

समस्या और समाधान

भट्ट जी के सम्पक मे आने के बाद धीरे धीरे मैं ने उन की सारी प्रकाशित रचनाएँ पढी। इस से जैसे उन का एक नया और यदि कहूँ तो विराट रूप उजागर हुआ। जैसे निकट से देखने पर कभी भी किसी पर्वत की ऊँचाई का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता, वैसे ही रोज साथ उठने-बैठने वालो के प्रति भी हम लोगो का रुख कुछ ऐसा मैत्रीपूर्ण और घनिष्टता का हो जाता है कि उस की महानता को ठीक से देखा-आँका नही जा सकता। कई-कई बार तो इस के विपरीत भट्ट जी की किसी रचना का कोई अश लेकर उस की पैराडी बना कर हम लोगो ने ऐसे कहकहे लगाए हैं कि कवि से अधिक भट्ट जी एक सामान्य सुहृद के रूप मे ही हमारे साथ रहे हैं। पर सचाई यह है कि इस

ऊपरी हँसी-मजाक के बावजूद मन-ही-मन हम सब भट्ट जा की विद्वत्ता, सूझ-बूझ और अनूठी कल्पनाओ के लोक मे मँडराती उन की प्रतिभा के प्रशसक और कायल रहे है।

पढाते भट्ट जी रहे हैं हिन्दी और सस्कृत, पर लिखते रहे हैं नाटक और काव्य। कुछ लोगो ने यह प्रश्न कई बार उठाया है कि वह नाटककार बडे हैं या कवि ? अथवा नाटककार पहले हैं या कवि पहले ? मैं इस विवाद को एकदम अनावश्यक मानता हूँ। सृजनशील कलाकार की हर रचना उस के कल्प-मानस की एक स्वतन्त्र सृष्टि है। उसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए—उसी की किसी दूसरी कृति से तुलना करना गलत है। इस दृष्टि से देखने पर मुझे तो उन के एकाकी और बडे नाटक भी उन के काव्य से कम अर्थगर्भ और सारपूर्ण नही लगे। विक्रमादित्य','दाहर','अम्बा', 'सगर-विजय','मुक्तिदूत,' 'शक-विजय' आदि मे उन्होने हमारे इतिहास के जिस उज्ज्वल पक्ष को उजागर किया है, उस पर हम गव कर सकते हैं। इसी तरह 'कमला', 'अन्तहीन अन्त', 'नया-समाज', 'पावती' आदि सामाजिक नाटक मानो प्रेमचन्द के समस्यामूलक उपन्यास की अगली कडी से लगते हैं। उस मे समाज और जीवन की जिन समस्याओ को भट्ट जी ने उभारा है, वे उन की सूझ-बूझ, समस्या की पकड और प्रतिभा के पूर्ण कौशल-सृजन की परिचायक हैं। यही बात उन के 'स्त्री का हृदय', 'समस्या का अन्त,' 'धूम-शिखा,' 'अधकार और प्रकाश,' पर्दे के पीछे,' 'आज का आदमी, 'जवानी', 'नारी के रूप' आदि एकाकियो के बारे मे भी कही जा सकती है।

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अधिकाश मनीषियो की तरह ही भट्ट जी के अध्ययन की पृष्ठभूमि भी सस्कृत-साहित्य ही रही है। यही कारण है कि उन की भाषा मे भी उस पाडित्य की छाप है और कथानको मे भी अपने पौराणिक और ऐतिहासिक नाटको मे उन्होने इस पृष्ठभूमि का भरपूर उपयोग किया है और भारतीय सस्कृति की परम्परा के उज्ज्वल पक्ष को कभी भी धुँधला या ओझल नही होने दिया है। 'नहुष-निपात', 'विद्रोहिणी अम्बा' और 'सगर-विजय' इस के प्रत्यक्ष प्रमाण है। पर भट्ट जी का साहित्यकार यही तक सीमित नही रहा। उस ने आधुनिक समाज के ज्वलन्त प्रश्नो और समस्याओ को केवल उठाया ही नही है, उन के समाधान भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे सुझाए हैं। ऐसा करने मे नाटको तथा एकाकियो के अतिरिक्त उन्होने उपन्यास के माध्यम से भी काम लिया है। 'एक नीड दो पछी', नए मोड', 'लोक परलोक', 'शेष-अशेष', 'सागर लहरे और मनुष्य' तथा 'दो अध्याय', उनके बडे सजीव और श्रेष्ठ उपन्यास हैं। अपने 'साहित्य के स्वर' निबन्ध-सग्रह मे उन्होने इन विचारो को और भी सुस्पष्ट रूप मे व्यक्त किया है।

काव्य के नए आयाम

पर यह सब कह चुकने के बाद यदि मैं अपने मन की बात कहूँ, तो मेरे मानस मे कवि भट्ट जी का चित्र ही अधिक स्पष्ट और गहरा है। न जाने क्यो, उन की प्राय हर रचना मे मुझे उन के कवि-मानस का यह बहुरगी चित्र ही अपने विभिन्न रूपो मे दिखाई पडता है और मेरी कुछ ऐसी धारणा बन गई है कि मूलत भट्ट जी कवि है—नाटक और उपन्यास सभवत उन्ही की एक उपपत्ति-सी है। उन की स्फुट कविताओ मे कल्पना की जो उडान, भावो का जो प्रबल प्रवाह और भाषा का जो सुगुम्फित रूप है, वह एक बारगी रचना पढने या सुनने पर मन के तारो को झकृत कर देता है। कुछ क्षण रुक कर सोचना पडता है कि कवि हमे कहाँ ले गया है। क्या दिखा रहा है। अगर मैं भूलता नही, तो उन का सब से पहला खड काव्य मै ने उन का 'तक्षशिला' पढा था, जिस की स्मृति आज तक भी बनी है। 'मानसी', 'कौन्तेय-कथा', 'मत्स्यस-गधा' आदि मे उन की स्वच्छन्द प्रतिभा का चमत्कार बडे अच्छे रूप मे प्रकट होता है।

किन्तु उन की विविधतामयी प्रतिभा के कुछ और रगीन चित्र उन की स्फुट रचनाओ मे काफी सजीवता के साथ उभरे है 'राका', 'विसर्जन', अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथाथ और कल्पना', 'इत्यादि' आदि की रचनाएँ इस का प्रमाण है। भावो का सयोजन और शब्दो का चयन तो कवि के अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के द्योतक हैं ही, इन पर उन के गम्भीर अध्ययन और कल्पना-वैचित्र्य की छाप की परिचायक भी है। ये रचनाएँ जैसे स्वय मुँह बोलती हैं। उन्होने कविता के कई नए अयामो को छुआ है और कही भी ऐसा कुछ नही है, जिसे समय धुँधला कर सके।

स्वाभिमान और निर्भीकता

सहृदयता और सौजन्यता की यह मूर्त्ति स्वाभिमान और निर्भीकता मे भी किसी से कम नही। समय आने पर दो टूक सत्य तथा कडी से कडी बात कहने मे भी भट्ट जी झिझकते नही। इस के विपरीत उन की शराफत का लोगो ने अनुचित लाभ भी उठाया है। यदि उन के जीवन की सारी सफलताओ को तराजू के एक पलडे मे तौला जाए और दूसरे मे उन की वे विफलताए, जो उन की निर्भीकता और स्वाभिमान के कारण हुई है, तो सम्भवत इन का पलडा ही भारी रहेगा। यह हिन्दी-जगत् के लिए कम दुर्भाग्य और शर्म की बात नही कि इतने बडे विद्वान और ऐसी सम्पन्न प्रतिभा का हम समुचित समादर नही कर सके। प्रकाशको के आगे जाकर गिडगिडाना उन्हे नही आता, इसी कारण वह चुपचाप उन के शोषण के शिकार बने और अपने कुछ ग्रथ उन्होंने स्वय ही छपवाए। पर किताबो की बिक्री मे जो धाधली और घूस-खोरी चलती है, उस के परिणाम स्वरूप इस दिशा मे भी उन्हे पर्याप्त असु-

विधा का ही सामना करना पडा।

कुछ समय के लिए भट्ट जी ने फिल्मो मे गीत और पट्ट-कथा लिखने का काम भी किया। इस सिलसिले मे वह १९४० मे कलकत्ता भी आए थे। उन दिनो मैं 'विशाल भारत' मे था। वहा प्राय प्रतिदिन भेंट और चर्चा हुआ करती थी। कुछ ही दिनो मे मैं ने देखा कि प्रचुर पारिश्रमिक मिलने पर भी भट्ट जी सिनेमा के वातावरण से सतुष्ट न थे और कुछ ही दिनो बाद उन्होने उस से छुट्टी भी ले ली। लेखनी को उन्होने कभी व्यवसाय का साधन नही बनाया।

इस के कोई १७ १८ वर्ष बाद भट्ट जी फिर कलकत्ता आए। एक दिन अचानक फोन पर उन्होने यह सूचना दी और बताया कि वह एक धनी व्यक्ति के यहा ठहरे हुए है। इस पर मैं ने उन से अनुरोध किया कि वहाँ न मिल कर हम कही बाहर ही मिलें तो अधिक अच्छा रहे। शाम को जब उन से भेंट हुई, तब हँसते हुए बोले—"भाई, मैं तो उस सेठ के यहाँ ठहर कर बडा असमजस मे पड गया हूँ। मेरा वहाँ मन ही नही लगता।" मैं ने इस सम्बन्ध मे उन्हे अपने कुछ अनुभव भी बताए। परिणाम यह हुआ कि अगले २४ घण्टो मे ही भट्ट जी कलकत्ता से वापस रवाना हो गए। यह तय था कि यदि वह उस स्थान पर कुछ और ठहरते तो शायद कुछ आर्थिक लाभ होता, पर उन के स्वाभिमान ने यह स्वीकार नही किया।

इस तरह मैं ने अनेक बार उन्हे सचाई, स्वाभिमान और निर्भीकता के कारण बडे-बडे प्रलोभनो को ठुकराते देखा है। आज भी वह इन से बचकर ही अपने अध्ययन मनन मे लगे है, यद्यपि अवस्था अधिक हो जाने से अब वह आगे की तरह नियमित रूप से नही लिख रहे।

मैं हृदय से उनके दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता हू।

भावाञ्जलि

श्री रतुभाई देसाई

श्री उदयशकर भट्ट हिन्दी के प्रख्यात साहित्यिक है। उन की रचनाओ से न सिर्फ हिन्दी पाठक वर्ग परिचित है, अपितु गुजराती भाषी हिन्दी प्रेमी वाचकवर्ग भी अच्छी तरह उपकृत है।

स्वतन्त्र भारत के भावात्मक ऐक्य का यदि कही किसी मे परिचय प्राप्त होता है तो वह भट्ट जी की साहित्यिक सेवा से प्राप्त होता है।

श्री काका कालेकर आजन्म महाराष्ट्रीय होते हुए समथ गुजराती गद्य के लेखक, चिंतक और सारस्वत हैं। वह महाराष्ट्र की गुजरात को बडी भारी देन हैं। उसी तरह भूतकाल मे श्री नारायण हेमचन्द्र बगाली थे, परन्तु परिव्राजक साहित्यकार थे और गुजराती साहित्य को बहुत कुछ प्रदान कर चल बसे।

इसी तरह श्री उदयशकर, गुजराती होते हुए बरसो से—पीढियो से—यू० पी० मे स्थित हैं और हिन्दी के साहित्यकार है। भट्ट जी हिन्दी जगत को और राष्ट्रभाषा की दृष्टि से सारे भारत को, गुजरात की देन है।

परस्पर का यह आत्मिक आदान-प्रदान सतत जारी रहे और भट्ट जी की साहित्य-प्रवृत्ति अधिक विकसित और विकासशील होती रहे, यही मेरे जैसे एक नम्र गुजराती की, इस मगल अवसर पर, शुभकामना है।

सम्मान समारम्भ अच्छी तरह से समवेत हो।

मूल्यांकन

नई कविता के पुराने कवि, श्री उदयशकर भट्ट

श्री भवानी प्रसाद मिश्र

श्री उदयशकर की कविता के बारे मे विचार करता हू, तो बहुत सी बाते मन मे आती हैं। भट्ट जी ने विगत ५० वर्षों मे काव्य के क्षेत्र मे हमे उल्लेखनीय कृतियाँ दी हैं। 'तक्षशिला', राका' 'विसजन', 'मानसी', 'अमत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'विजय-पथ' कौंतेय कथा' 'कणिका', 'इत्यादि', 'अन्तर्मंथन', 'चार चित्र' 'मुझ मे जो शेष हैं'—ये १३ काव्य पुस्तकें उन्होने हमे दी, और प्रत्येक पुस्तक मे काव्य-ममज्ञो ने कोई न कोई विशेषता देखी। मोटे तरीके से कह सकते है कि विगत ५० वर्षो की कविता का इतिहास और उस की प्रगति की झलक अगर हमे किसी एक ही कवि मे देखनी हो, तो श्री उदयशकर भट्ट को पढ कर उसे देखा और जाना जा सकता है। आलोचको ने उदयशकर जी को बारीकी से नही पढा, और उन पर कहने लायक कुछ लिखा गया हो, सो भी मेरे देखने मे नही आया। मुझे उस का सब से बडा कारण यही लगता है कि श्री उदयशकर भट्ट कभी किसी एक वाद या विचार के कवि नही रहे और आलोचको के प्राय निश्चित वाद, विचार या गुट होते है। अगर आप राष्ट्रवादी, छायावादी, प्रगतिवादी या प्रयोगवादी गुट मे नही हैं तो उस गुट के आलोचक आप की बात करने से से बचेगे, यहाँ तक कि नाम गिनाते समय भी वे आप का नाम छोड जाएँगे। उदयशकर जी ने किसी प्रचलित वाद के बदले अपनी इच्छा, रुचि, स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार जब जो विषय उन के रास्ते मे आया, उस को अगीकार किया और उसे अपने ढग से लिखा। अपने ढग से अपनी इच्छा के अनुसार लिखना, मैं कवि की सब से बडी आवश्यकता मानता हूँ। समाज अथवा आलोचक, कवि को सदा बरगलाते है, ऐसा तो मैं नही कहता, किन्तु साधारणतया यह तो मानना ही पडेगा कि समाज मे कोई धम-नीति, अथ नीति या राज-नीति प्रबल हो कर कविता से अपना काम लेना चाहती है और उसी नीति के हामी आलोचक, कवि की प्रशसा या निन्दा कर के उसे अपने पथ पर ले चलना चाहते है। यदि समाज अथवा आलोचक की कोई प्रेरणा वास्तव मे किसी कवि की भी प्रेरणा हो तो उस की बात दूसरी है। किन्तु ज्यादातर तो यही देखा जाता है कि साहित्यकार तत्कालीन परिस्थितियों

की लपेट मे आ कर कभी इस तो कभी उस भय से अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी लिखता चला जाता है । किसी कारण से ऐसा लिखना आवश्यक हो सकता है, उपयोगी भी ठहर सकता है, किन्तु अन्ततोगत्वा वह 'सैकिण्ड हैड' लिखना है, इसलिए मेरा जी उसे बहुत महत्त्वपूर्ण मानने का नही होता ।

भट्ट जी अपने समय से प्रभावित नही हुए, ऐसा कहना एक असम्भव बात कहने के बराबर है । कोई भी ऐसा व्यक्ति नही हो सकता, जिस पर अपनी आस-पास की परिस्थितियो का असर न पडे और जो उन्हे किसी न किसी रूप मे व्यक्त न करे, श्री भटट जी पर, जब वह बच्चे थे राष्ट्रीयता का असर पडा । उन दिनो बग भग का आन्दोलन चल रहा था । उस के बाद जब वे बडे हुए और राष्ट्रीय काव्य-पुस्तको मे रत्नशिरोमणि 'भारत-भारती' उन के हाथ लगी, तब उन्हो ने उसे आश्चर्य और आनन्द के साथ पढा तथा आत्मसात् किया । वह दासता से दुखी हुए और देश की आशा और आकाक्षाओ को चित्रित करने वाली इस अनोखी पुस्तक से कुछ आशा भी उन के मन मे जागी, किन्तु उन का सहज शकित मन शकित ही रहा और उन्होने उस समय जो कविताएँ लिखी, उन मे यद्यपि हम देखते हे कि राष्ट्रीयता का स्वर स्पष्ट है, फिर भी निराशा का स्वर कम स्पष्ट नही है । 'युगदीप' तथा 'यथाथ और कल्पना' की अनेक कविताएं उदाहरण की तरह पेश की जा सकती हैं । वे एक क्षण कहते हैं —

अधकार, अधकार, अधकार चीर चल'

किन्तु दूसरे ही क्षण आशा को एक मृग तृष्णा मानकर कहते हैं —

कोई बिखेरता जाता है,
कोई समेटता जाता है,
निशि-दिन की चरखी पर,
जीवन डोरी लपेटता जाता है
ककालमात्र वह आज बना,
जो जीवन बीत, पुनीत गया ।

जीवन और ससार के प्रति भट्ट जी की दृष्टि बिलकुल उन की अपनी दृष्टि है, ऐसा तो नही कहा जा सकता, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होने हर परिस्थिति मे स्वय सोचते रहने की कोशिश की है । जीवन कुल मिला कर उन के लिए उल्लास का कारण नही है, चिन्ता और भय का कारण है और इसलिए न सोच कर कुछ भी कहते चले जाने का निश्चिन्त स्वभाव उन के कवि का वभाव नही है । वह हर परिस्थिति को खुली आँखो से देखते है और खुले दिमाग से सोचते है, चाहे वह बात राष्ट्रीयता की हो, चाहे मानवता की हो, चाहे युद्ध के पक्ष की, चाहे युद्ध के विपक्ष की —

मैं जीवन से भय खाता हूँ—
प्रणय गीत मे क्रान्ति बोलती, कब विद्रोह दबा पाता हूँ । (पूर्वापर)

उन के काव्य सग्रह 'मानसी' तक मे, जो वैसे प्रकृति चित्रण का ही काव्य है, निराशा का स्वर प्रबल दिखाई देता है, किन्तु धीरे-धीरे आस्तिकता जिसे मैं ससार के कल्याण मे विश्वास का दूसरा रूप समझता हू, भट्ट जी के विचारो पर अधिकाधिक आच्छादित होने लगती है और उन्हे ऐसा लगने लगता है कि 'मनुष्य ससार के नाम भेजी हुई भगवान की चिट्ठी है' और इस का काम है समस्त विश्व को सौन्दर्य, विश्वास और शक्ति की ओर प्रेरित करना। भट्ट जी का यह काव्य काल देश के राजनीतिक विचारो मे गाँधीवाद से प्रभावित कार्य-काल है। इस काल की उन की कविताओ मे मार्क्सवाद का प्रभाव भी काफी दिखाई देता है, किन्तु उन की स्वतन्त्र चेतना यहा भी उन्हे समष्टि मे विश्वास करते हुए व्यक्ति की महत्ता की ओर से विमुख नही करती।

व्यष्टि की गरिमा और स्वतन्त्रता की ओर जागृत कवि की मनीषा परम्पराओ मे गड कर नही बैठी रह सकती और इसीलिए हम देखते हैं कि श्री उदयशकर भट्ट का काव्य प्रारम्भ से अत तक एक स्वच्छन्द बहती हुई धारा है जो कही कम, कही ज्यादा चौडी या गहरी हो सकती है, किन्तु रुकी और बधी कही भी नही है। भट्ट जी का काव्य पढते हुए जो अनेक विचार मन मे आते है उन मे सर्वाधिक प्रमुख विचार यही होता है कि श्री उदयशकर भट्ट हमारे पुरानी पीढी के कवियो मे सब से अधिक नए कवि है। 'नया' कहने से आज जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह बहुत अस्पष्ट है, इसलिए स्पष्ट करना चाहता हूँ कि 'नया' कह कर मै क्या कहना चाहता हूँ—

पुराने और आज तक के समस्त साहित्य के बीच रख कर देखी जाने पर जो कृति या कृतियाँ सामयिक या प्रसगानुकूल जान पडे, वे नई हैं, साधारणतया सब युगो और सब देशो मे ऐसा साहित्य ही विपुल होता है, जिस पर तत्कालीनता और तद्देशीयता की छाप बहुत जोर से लगी होती है। हर युग और हर देश की अपनी एक भगिमा होती है जो सम्बन्धित साहित्य को अनेक युगो और देशो के साहित्य से थोडा-न-थोडा विशिष्ट या विभिन्न तो बना ही देती है, किन्तु इन के साथ-साथ सभी युगो और देशो मे कुछ ऐसी कृतिया भी रची जाती रहती हैं, जो आगे पीछे किसी भी समय और किसी भी देश मे प्रसगानुकूल लग सकती है। जो कवि सब देश-काल प्रसगो मे पढा या सुना जा सकता है, वह कवि उतना ही अधिक नया है ऐसी मेरी मान्यता है। कवि के दो काम होते है देखना और कहना। सभी कवि देखते और कहते है। कोई कवि ऐसा होता है जो केवल महत्वपूर्ण चीजो को देखता है और उन्हे बहुत महत्त्वपूर्ण ढग से कहता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चीजो को देखना और उन्हे उतने ही महत्त्वपूर्ण ढग मे कहना कवि को शाश्वत (क्लैसिक) कवि बना देता है। प्रसगानुकूलता शाश्वता की अपेक्षा अच्छी चीज है या नही, इस बहस मे पडे बिना इतना तो कह देना चाहता हूँ कि वह उससे अलग चीज

अवश्य है। यद्यपि शाश्वत और प्रसगानुकूल काव्य इतने अलग-अलग भी नही है कि शाश्वत प्रसगानुकूल और प्रसगानुकूल शाश्वत नही हो सकता, तथापि प्रसगानुकूलता कुल मिला कर कहने के ढग से अधिक सम्बद्ध है श्री उदयशकर भट्ट अपनी प्रारम्भिक रचनाओ मे मानो अपने स्वभाव को खोज रहे थे। 'तक्षशिला', 'राका', विसजन' आदि से लेकर 'कणिका', तक के काव्य सग्रह कहने के ढग की परम्परा ले कर चलने वाले काव्य सग्रह है और इसलिए हम देखते है कि भट्ट जी इन काव्य-सग्रहो मे बहुधा प्रसगानुकूल अर्थात् हर समय अपनी विधा के कारण आनन्द दे सकने वाले काव्य, नही दे पाए है। विचारो के कारण वह आनन्द दे सकता है, किन्तु विचार जो उन मे व्यक्त हैं वे भी ज्यादातर परम्परागत विचार है। बाद के काव्यो मे भट्ट जी का यह गुण विकसित हुआ है, और इतना अधिक विकसित हुआ है कि मैं उन्हे सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारीसिह 'दिनकर', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', हरिवशराय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा और 'अज्ञेय' के समय का मानते हुए भी नरेश मेहता, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', धमवीर भारती, शमशेर बहादुरसिह और कैलाश वाजपेयी आदि के समय का भी मानना चाहता हूँ।

सभी जानते हे कि छन्द काव्य का परिधान है, स्वय काव्य नही है। किन्तु कुछ व्यक्तियो की काव्य-चेतना छन्द मे बध कर कुण्ठित हो जाती है और उस से छुटकारा पाते ही अनन्त सम्भावनाएँ एक-साथ प्रतिबिम्बित करने लगती है। उदयशकर भट्ट की काव्य चेतना मुझे ऐसी ही काव्य चेतना जान पडती है। अपने प्रारम्भिक काव्य ग्रन्थो मे वह छन्द का बन्धन मान कर चले है और इसलिए हम देखत हे कि वहाँ उन का काव्य सहमा हुआ-सा दिखाई देता है। वह पूरी तरह अपने मन की बात नही कह पाता और जितना कह पाता है, प्रभाव उस से भी कम पर डालता है। उदाहरण के लिए 'पूर्वापर', 'इत्यादि' और 'मुझ मे जो शेष है' की एक ही विषय को चित्रित करने वाली तीन कविताओ के अश सामने रख रहा हूँ।

सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप—
सागर लहरो को सुला गोद, मुख चूम उमगे रहा माप।
सब मूक नगर, पथ, गली, द्वार,
नर मूक सो रहे—पग पसार,
आँखो मे भर कर पाप-पुण्य,
आँखो मे भर कर अघ-जघन्य,
उर मे जीवन की आशाएँ,
आशाओ की मृदु भाषाएँ,
कुछ शाप और—
अपलाप लिए,

वरदान और—
अपमान लिए,
अरमान कही, अवसान कही,
कोने मे स्मृतिया कही मूक,
चचल आकृतियाँ कही मूक,
कुत्ते भी चुप, कौए भी चुप,
तस्कर रखते पग दबा चाप—
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।

यह हुआ 'पूर्वापर' से सग्रहित 'रात की गोद में नामक कविता का प्रारम्भिक अश। और अब देखिए 'इत्यादि' मे सग्रहीत कविता 'रात गहरी है'

रात गहरी है—
सुप्त जग पर साँस की झीनी मसहरी है।
घूमते हैं नाश के आकाश मे बादल
घूमती है काल की सन्तान घडियाँ-पल
घूमती है तारिकाएँ निशा पनघट पर,
उभरता है नया युग हर नई करवट पर,
तिमिर का यौवन निशा का सजग प्रहरी है।

ऊपर के दोनो कविताश बघे हुए छन्द मे हैं और विशेष भी है, किन्तु छन्दहीन हो कर भट्ट जी कितने विशिष्ट हो जाते है, यह इस तीसरे अश मे देखिए—

सुदूर पर्वत के आँचल मे युग युग से सोता
हरे-हरे पेडो मे दण्डवत्-सा पडा
सदियो से अन्धेरे की सरिता मे
डूबती उतराती लाश-सा बेजान
एक गाँव !

× ×

सबका मन अन्धेरे से भरा भरा,
धुआ ही धुँआ।

× ×

समय चलता दीखता है
वर्तमान बीतता है
मगर भविष्य नही आता
नही आता !

'इत्यादि' और 'मुझ मे जो शेष है' भट्ट जी के सर्वाधिक टटके काव्य-सग्रह

हैं। इन दोनो ही सग्रहो को यदि बारीकी से पढ लिया जाए तो ऐसा कहा जा सकता है कि भट्ट जी की पूरी उपलब्धि उन के माध्यम से समझी जा सकती है। साहित्य के इतिहास मे पहले-पहल कवि दार्शनिक ही अधिक देखा जाता है। उस ने जो-कुछ अनुभव किया उसे व्यक्त करने वाले शब्द किसी काव्य-पद्धति के अनुसार नही होते थे, कवि को अनायास प्राप्त होने वाली उसी की किसी पद्धति के अनुसार होते थे। धीरे-धीरे काव्य एक शास्त्र बन गया और तब बात ही बदल गई। कौशल दिनोदिन प्रधान होता चला गया। दोयम दर्जे के लोग सच्चे कवि को पीछे ढकेल कर आगे आने मे सफल होने लगे। भट्ट जी के प्रारम्भिक काव्य इसी परेशानी मे दूसरो से पीछे रह जाने वाले काव्य-सग्रह हैं, क्योकि वे तब अपनी किसी अनायास पद्धति का अनुसरण न कर लगभग बधी-बधाई परम्परा के अनुसार लिखने की लाचारी मे पडे थे। किन्तु बाद मे उन्होने देखा कि शास्त्रानुसारी पद्धति उन की अपनी भगिमा नही है उन की बडी से बडी बात भी इस शास्त्रानुसारी पद्धति मे पड कर कई बार खाली चली जाती है। जान-बूझ कर जागृत भाव से उन्हो ने इसका अनुभव किया हो या नही, किन्तु उन के अवचेतन ने अवश्य इसका अनुभव किया कि भगिमा निजी होती है और उसी को वास्तविक मौलिकता कहना चाहिए।

मेरे घन से उमडे मन मे
अनगिनत अर्थ है, शब्द नही।
अर्थों को इगित अक्षर दो
मत दो शब्दो का आडम्बर,
केवल अर्थों को अम्बर दो।

(शब्द और अर्थ, 'इत्यादि',)

"कालिदास सपना है,
मेरा धन अपना है,
मुझे पगडडी पर पनपना है।"

(आत्म-निवेदन, 'इत्यादि')

जो कवि शास्त्रानुसारी या अन्य किसी पद्धति के द्वारा देखता है और दूसरो को दिखता भी उसी पद्धति के द्वारा है, वह कहना चाहिए कि मौलिक नही है। देखा भी दूसरे के ढग से और कहा भी दूसरे के ढग से, तो तुम्हारा उस मे बच ही क्या गया? किन्तु अपने ही ढग से देखने और कहने मे इतनी सावधानी तो जरूर रखनी चाहिए कि काव्य दुरूह न बन जाए। जिसे कवि ने देखा या अनुभव किया है वह यथासम्भव सब को दिखे, मगर सब उस को, कम ज्यादा ही सही, अनुभव करें जरूर। यानी हमारे पढ कर समझने वालो का दायरा अधिक से-अधिक विस्तृत हो। हमने जो देखा है, यदि हम दूसरो को उसे न दिखा सके या उन का दायरा अनावश्यक पात्रताओ की शर्त लगा कर

कम करते चले गए और उस का दर्शन केवल विशिष्टो का हो सके, तो इतना तो कहना ही पडेगा कि कि हम ने जितना हमे करना चाहिए उतना नही किया। अर्थात् काफी नही किया और जो काफी नही है, वह सीमित है, घेरे मे बधा है, सब का नही है। यह परिस्थिति और भी बुरी बहुत उस समय हो जाती है, जब कवि या कलाकार कुछ ऐसा मानने लगता है कि साधारण आदमी को अथवा पाठक को मेरी कविता समझने का अधिकार नही है। मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि काव्य शास्त्र विनोद मे ही जिन का समय जाता है, केवल उन 'धीमानो' को आनन्द देना पर्याप्त नही है, कठिन श्रम मे लगे अनाज उगाने वाले, सडके कूटने वाले—'मूढो' को भी आनन्द देना जरूरी है। अगर कविता अभिजात को आनन्द देकर रुक गई तो कहना पडेगा कि वह अपने गन्तव्य तक नही गई, बीच मे ही बिलम गई। उद्देश्य तो कम से कम बडे कवि और काव्य का यही होना चाहिए कि उस की बात को कोई कम, कोई ज्यादा, मगर समझे जरूर

मैं उधर भी बहूँ
बात उन की कहूँ
जो जले जा रहे दु ख सघष मे

× × ×

जो चले जा रहे सिर झुकाए हुए
ठठरियो से खडे
ठूठ से पथ अडे, भय विवश मौन जो !
खण्डहरो सी नजर
चल रहे बीच मे शून्य से
अघ-डगर।
दद की गद-भर भाल
मै पोछ दू !
मौत को आँछ दूँ !

× × ×

यह चुनौती मुझे धार का गीत दे।
हारता हूँ
मगर हार ही जीत दे
मैं विजय के
अजित शख स्वर की कथा
मैं तथा ! मैं तथा !

('इत्यादि')

जो कवि अपने इस उद्दिष्ट को जितना अधिक ध्यान मे रखता है वह नित्य प्रति अपने माध्यम के प्रति अधिकाधिक सजग और इसलिए अधिकाधिक सरल होता चला जाता है। उदयशकर जी की भाषा भी उत्तरोत्तर सरल और साफ होती चली गई है। 'पुरातनवादी' का चित्र देखिए

'पुरानी छान,
दरारो का मकान
टूटी मुडेर का कगा
(दिमाग मे धुँआ)
चीकट कपडे
बदबू भरा जनेऊ

× × ×

साँपो को दूध, अहमदाबादी पान के बीडे
पुरानी नफासत, पुरानी आदत,
मसान की,
पीर की,
पेडो की इबादत!

× × ×

सिर की रगे ठडी है
दिमाग खाली है।
बीते की शान अलमस्त हे
निराली है
भूत ही ठीक है, भविष्यत् तो अधा है
बडो ने जो बताया
अपना वही धन्धा है!
होता जो आया है
ठीक है सच्चा है!
अच्छा है, अच्छा है।"

('मुझ मे जो शेष हैं')

बोलचाल की यह भाषा और बोलचाल का यह छन्द सस्कृत और काव्य-शास्त्र के पण्डित उन उदयशकर जी का है, जो कभी इस तरह लिखते थे

"जो फूल, कली के भोलेपन की लाज पहन उन्मुक्त सजल
नीहार कणो के मन्त्रो से अभिषिक्त हुआ।
जो फूल, दिशा के मौनस्तवन का मधु पीकर सुषमा-विह्वल
प्राची के स्मय की ज्योति धार से सिक्त हुआ।

× × ×

जो बूद तरसते खेतो की मुसकाहट बन, उन्मन-उन्मन,
अपने तन-मन की आहुति दे खो जाती है,
उस के प्राणो के गीत कहो किसने गाए
जो स्वय काल का विषम-भाल धो जाती है ।"

('प्राणो के छन्द)

आज भी उदयशकर जी कभी कभी अपेक्षाकृत कठिन भाषा का प्रयोग कर लेते है, क्योकि वह जानते हैं कि भाषा शब्दो से गढी गई है और शब्दो की चेतन सामग्री ध्वनि है । यानी अगर काव्य को परिपूर्णता देना है तो भाषा को परिपूर्णता देनी पडेगी , शब्दो को सही क्रम अनुपात और लय दे कर रूपायित करना पडेगा और फिर कठिन अर्थ को इन के माध्यम से सहज बना कर प्यासे प्राणो तक पात्रो मे भर-भर कर प्रस्तुत करना पडेगा । कवि की गरिमा की इस लाचारी को अपनी कविता 'कहना भी आया क्या' मे उन्होने यो सोचा हैं

मैं ने इस दुनिया को
अक्ल के अनुभव के
तक के चाकू से तराशा
पर तराश भी पाया क्या ?
बरसो का बासी मैं
विचारो का चैत्य गिरि
साधिकार कहता रहा,
कहना भी आया क्या ?

('मुझ मे जो शेष है')

कहने की पूर्णता के प्रति यही जाग्रत दृष्टि कवि नित-नए प्रयोग करने पर बाध्य करती है

अपने मे रहता हूँ,
अनकहा कहता हूँ—
भाषा जाति वर्ण भेद
कृत्रिम की आड है
देशो की सीमा
सकीर्णता की बाड है !

× × ×

सब के सुख एक हैं,
सब के दुख एक हैं ।
गाएँ सब देशो की क्षीर ही देती है,
नदियाँ सब देशों की नीर ही देती हैं,

रोना और हँसना भी एक-सा होता है,
दया और प्रेम का हृदय एक सोता है।
एक-सा चेतन है, एक तन-केतन है,
मैं ही एक पथचारी।
देश के विदेश के सभी कवियो का गीत,
जीवन की प्रकृति की सभी छवियो का गीत,
युग से युगान्त से, दिशा से, दिगन्त से—
गाता चला आया हूँ, गाता चला जा रहा हूँ।
गाता ही रहता हूँ, क्योकि मैं कवि हूँ,
बिखेरता ही रहता ज्योति क्यो कि मै रवि हूँ।
मै ही एक पथचारी
अनादि से अनन्त तक।"

शब्दो द्वारा अर्थो का प्राण-वायु से भर कर जीवनयान के पाल को उडाते हुए अनजान महासागरो मे आन जाने वाले प्रयोगो के धनी उदयशकर भट्ट जी को प्रणाम करता हूँ। मेरी इच्छा हे और आग्रह है कि नई कविता के पाठक और समीक्षक भट्ट जी के 'इत्यादि' और 'मुझ मे जो शेष है' सग्रहो मे सग्रहीत कविताओ को ध्यान से पढे। उन मे उन्हे कितनी ही ऐसी कविताएँ मिलेगी, जिन्हे देख कर ऐसा लगेगा कि भट्ट जी कम से-कम शतायु हो, और अन्धेरे मे एक के बाद एक प्रस्फुटित होने वाले तारो के समान एक के बाद एक कविता-सग्रह हमे उन के हाथो से मिले।

भट्ट जी का काव्य : एक विवेचन

डा० विजयेन्द्र स्नातक

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार भट्ट जी की कलाकृतियो को पढ कर यह निर्णय करना कठिन है कि उन की कला-साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप किस विधा मे है। आज उन के नाटककार रूप की ख्याति अपेक्षाकृत अधिक फैली हुई है, किन्तु उन की नैसर्गिक प्रतिभा का मूल स्रोत नाटक और उपन्यास मे न हो कर कवि रूप मे है। कहना न होगा कि भट्ट जी निसर्ग-सिद्ध प्रतिभाशाली कवि हैं। कवि की क्रान्त दृष्टि को ही उन्होने नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि विविध साहित्य-विधाओ मे सक्रमित कर रचना की है। सस्कृत के मूर्धन्य कवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, वाण और श्री हर्ष की रचनाओ के अनुशीलन से जो गहरा अनुराग हुआ वही कवि रूप को समृद्ध बनाने मे सहायक हुआ। इसलिए कविता से पीछा छुडाना भट्ट जी के लिए सम्भव नही रहा। उन के प्रारम्भिक नाटको की तत्सम प्रधान क्लिष्ट भाषा को कुछ विद्वानो ने प्रसाद जी के नाटको का अनुकरण ठहराया था, किन्तु मूल रूप मे वह भाषा प्रसाद जी का अनुकरण न हो कर सस्कृत कवियो के गहरे प्रभाव की सूचक थी। भट्ट जी का कवि-रूप ही उस मे सर्वत्र व्याप्त है, जो नाटककार को भी कवि के रूप मे प्रस्तुत करने मे समर्थ है। भट्ट जी का पहला नाटक 'विक्रमादित्य' सस्कृत नाटककार विशाखदत्त के 'मुद्रा राक्षस' से प्रभावित है ऐसा स्वय भट्ट जी स्वीकार करते है। उन की स्वीकारोक्ति यह भी है कि जयशकर प्रसाद और बगला के सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का भी उन के नाटको पर प्रभाव है, किन्तु मूल रूप से सस्कृत के कवि ही उन के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। जब भट्ट जी नाटक-क्षेत्र मे अवतरित हुए, तब प्रसाद जी के नाटक विख्यात हो चुके थे। उन के गुण दोष भी आलोचना द्वारा उद्घाटित होने लगे थे। भट्ट जी ने साहित्यिक आलोचनाओ पर ध्यान न दे कर अपना सर्जन प्रारम्भ किया और कवि नाटककार के शवलित व्यक्तित्व से 'विक्रमादित्य' जैसे नाटक की रचना कर डाली। बाद मे उस की भाषा और अभिव्यक्ति पर उन का ध्यान गया और उन के मित्रो ने भी उन का ध्यान आकृष्ट किया। राधेश्याम कथा-वाचक उन दिनो मचीय भाषा मे जनता के लिए नाटक लिख रहे थे और पारसी थिएट्रिकल कम्पनियो द्वारा उन के नाटक अभिनीत होते थे। भट्ट जी

का राधेश्याम कथावाचक से मैत्री सम्बन्ध था, अत उन्होने भी भट्ट जी की भाषा मे अतिरजित कवित्व का आरोप लगाया और उन्हे मचीय सम्भावनाओ से रहित बताया। भट्ट जी ने अपने बाद के नाटको मे इन परामर्शों से लाभ उठाने का पूरा प्रयास किया, कि तु वह अपने मौलिक एव निसग सिद्ध कवि-रूप को आज भी छोड नही पाए हे। शेक्सपियर और प्रसाद भी अन्त तक कवि-रूप मे ही रचना करते रहे। नाट्य-विधा को स्वीकार करने पर भी उन का कवि रूप प्रमुख रहा। भट्ट जी के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है।

कवि होने पर भी नाटक लेखन के प्रति भट्ट जी का मोह प्रारम्भ से रहा है। अभिनय के प्रति प्रेम होने के कारण वह रामलीला और रासलीला मे गहरी रुचि रखते थे। उस रुचि को अभिनय मे ही विकसित होने का अवकाश था। अत कवि-रूप के साथ नाटककार का रूप भी उन्होने प्रारम्भ मे ही अपना लिया। बगाल के प्रसिद्ध कॉंग्रेसी नेता देशबन्धु चित्तरजनदास का उन्होने स्वय अभिनय किया था और उन की राष्ट्र-सेवाओ से मुग्ध हो कर एक लघु नाटक भी लिखा था, जो आज अप्राप्य है।

भट्ट जी के साहित्यानुशीलन से जो चित्र पाठक के मन पर उभरता है वह एक ऐसे साहित्यकार का है जो प्राचीन सस्कारो और परम्पराओ की मर्यादाओ से आवेष्टित होने पर भी आधुनिक-अर्वाचीन मान्यताओ के स्वस्थ-सयत रूप को ग्रहण कर साहित्य प्रणयन मे विश्वास रखता है। साहित्य को सतत प्रगतिशील मानने के कारण नवलेखन जैसी नूतन साहित्यिक क्रान्ति को भट्ट जी स्वाभाविक मानते है। "यदि जगत् परिवतनशील है तो साहित्य ही अपरिवतनीय एव स्थिर क्यो रहे। भाव और भाषा मे भी परिवर्तन होगे और उन्हे प्रत्यक जागरूक साहित्यकार, यदि वह भविष्य को जीवन्तशक्ति से परिपूर्ण देखना चाहता है, तो सहष स्वीकार करेगा, ऐसी भट्ट जी की स्पष्ट मान्यता है।"

भट्ट जी की प्रारम्भिक कविता मे इतिहास की पृष्ठभूमि पर अतीत की झाँकी प्रस्तुत करने की चेष्टा है। 'तक्षशिला' एक खण्डकाव्य के रूप मे लिखा गया, किन्तु उस की अभिव्यक्ति मे तात्कालिक भारतीय गौरवगाथा को ही प्रस्तुत करने का लक्ष्य है। 'राका' और 'विसर्जन' की कविताएँ भावुक मन की सहज एव सरस अभिव्यजना हो है जिन मे काव्यत्व का सुष्ठु सयोग है। इन कविताओ पर छायावादी शैली की छाप होने पर भी दुरूहता या अस्पष्टता का आरोप नही लगाया जा सकता। हाँ, प्रेम, अनुराग और समर्पण आदि भावनाओ का प्राचुर्य उस युग की देन है। 'तक्षशिला' मे कवि के समक्ष जो ध्येय था, वह परवर्ती कविता-सग्रहो मे नही रहा, किन्तु भारतीय जीवन-दशन की अव्यक्त छाप छोटी से-छोटी कविता मे भी देखी जा सकती है। भट्ट जी की कविता का वण्य विषय चाहे कुछ हो, किन्तु मूल मे एक ही सवेदन है और वह है मानव और उस की पीडा। पीडा को भट्ट जी ने गान का विषय भले ही न बनाया हो, किन्तु मानवात्मा की पीडा ने कवि को निरन्तर मथा है और

काव्य सजन के क्षण मे वह पीडा घनीभूत हो कर काव्य मे समा गई है। मानव के प्रति समवेदना और सहानुभूति की दृष्टि रखने के कारण उन के काव्य का सम्प्रेषण पक्ष छायावादी कवियो से अधिक पुष्ट है। माखनलाल चतुर्वेदी को छोड कर उस युग मे इतना अधिक सहज सवेद्य काव्य किसी और कवि ने नही लिखा।

कविता के द्वारा मानवीय करुणा को वाणी देने का प्रयास भी भट्ट जी का अभीष्ट रहा है। करुण-भाव सृष्टि का सब से मोहक भाव है, इस का प्रभाव दोनो पक्षो पर पडता है। भट्ट जी ने इस भाव के सात्विक रूप को अकित करने का ही सदा प्रयास किया है, पीडा और करुणा से विगलित हो कर मानव के मन मे यदि कभी कुण्ठा और निराशा का भाव आ जाए तो बहुत विस्मय की बात नही माननी चाहिए। नैराश्य और विषाद हमारे सहचर है जो हमे खिन्न भी करते है और उद्बुद्ध भी। 'मानसी' की रचना करते समय कवि ने इसी निराशावादी दृष्टि को चित्रित किया है। निराशा जीवन का एक ऐसा पक्ष है जो किसी-किसी हतभाग्य का दशन बन जाता है और वह इसी दृष्टि को अपने लिए शाश्वत दृष्टि मान बैठता है। ससार के प्रति असारता और क्षणभगुरता की भावना पैदा हो जाती है, तब ससार के समस्त सुख भोग प्रवचना और धोखा प्रतीत होते हैं—

यह कोकिल का गीत, गीत मे
हृदय, हृदय मे ताने भी क्या
सब धोखा ही धोखा है यह,
प्रणय, प्रपच तराने भी क्या ?
यह सब क्या मिथ्या प्रपच है
इस मे कोई सार नही है
यह सब क्या मृग-मरीचिका है
क्या सचमुच ससार नही है ?"

('मानसी' पृष्ठ ८०)

किन्तु इस निराशा के गहनाधकार मे भी कवि की आस्तिक बुद्धि प्रकाश की एक रेखा खोज ही लेती है और वह उद्बोधन के स्वर मे पुकार उठता है—

दुख मे सुख की लहर छिपी है
चढो चढो, थक गए, चढो।
फिर जीवन-भूधर चढना होगा,
सो कर जग कर, रो कर, हँस कर
चढना होगा, बढना होगा,
चलते जाओ, बढते जाओ।
खीच रहा कोई आकर्षण

जहाँ गिरे बस वही मरण है,
ऊबड खाबड समतल जीवन ।

जीवन की विषम और अज्ञात परिणति का इस से अच्छा वर्णन और क्या हो सकता है । इस की नीव मे निराशा और कुण्ठा होने पर भी आगे बढने का अमर सदेश छिपा हुआ है । 'युगदीप' तथा 'यथार्थ और कल्पना' सग्रह तो इसी विषय की उदबोधक कविताओ से भरे हुए है ।

उदाहरण दे कर मै विषय को विस्तार नही देना चाहता, किन्तु उन विचारोत्तेजक भावपूर्ण कविताओ की ओर मैं पाठक का ध्यान अवश्य आकृष्ट करूँगा जिन मे बल, बलिदान और जीवन-जागृति का दिव्य सदेश भरा हुआ है। यह कवि का सचमुच दुर्भाग्य रहा कि ऐसी सशक्त एव प्राणवान कविताओ की ओर न तो आलोचको का ध्यान गया और न सामान्य पाठक की दृष्टि ही इन पर गई। द्वितीय महायुद्ध के समय विश्व मे बाह्य सघर्ष के साथ एक मानस सघर्ष भी निरन्तर चल रहा था । सैनिक योद्धा बाह्य सघर्ष का सामना शास्त्रास्त्रो से रणक्षेत्र मे कर रहे थे और कवि-कलाकार मानस-सघर्ष को अपनी कृतियो मे व्यक्त करने मे लीन थे । युद्धकाल मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सीमाओ मे रह कर अपनी दृष्टि से ही युद्ध के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है। किन्तु युद्ध का प्रभाव यह नही है कि मनुष्य अपने शाश्वत मनोभाव—इमोशस तथा सेंटीमेंट—से सर्वथा रहित हो कर जीवित रहे ।

भट्ट जी की युद्ध पूर्व लिखी हुई कविताएँ इन्ही मनोभावो का चित्रण प्रस्तुत करती है । इन कविताओ की सरसता मे तो सन्देह हो ही नही सकता, किन्तु इनके विचारपक्ष के वैभव पर भी पाठक मुग्ध हुए बिना नही रहेगा । इन कविताओ मे भट्ट जी ने युद्ध को नवीन उन्मेष, नवीन सघर्ष और नवीन चेतना मान कर अकित किया है । उन की स्पष्ट मान्यता है—'दरअसल यह मनुष्य का मनुष्य से युद्ध नही है, सामाजिक विषमता का युद्ध है, आर्थिक बटवारे का युद्ध है, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के सामने अस्तित्व का युद्ध है, एक विचारधारा का दूसरी विचारधारा से युद्ध है । ठीक है यह युद्ध होना चाहिए । जब प्रकृति मे युद्ध हो रहा है तब मनुष्य की विचारधारा मे युद्ध क्यो न हो ?" किन्तु युद्ध का यह समर्थन मात्र पाशविक युद्ध के निमित्त नही किया गया है । इस समर्थन के पीछे भट्ट जी ने मानवीय गुणो को खोजने का उपक्रम किया है । उन के सामने युद्ध की बात करते समय यह प्रश्न बडी प्रखरता के साथ खडा रहा है कि—फिर क्या युद्ध के अतिरिक्त मनुष्य एव साहित्य और कुछ है ही नही ? फिर क्या करुणा, आनन्द, आत्मानुभूति, स्वान्त सुख, निर्विशेष विवेक सन्तोष क्या है ? और वह क्या है जिस मे कवि कहता है कि सब सुखी हो, सब नीरोग हो, सब कल्याण मार्ग के पथिक बने—

जलन मेरी तुम्हारे स्वर-सी मधुरतर हो,
निकलते उच्छवास को अपना,नया स्वर दो ।

युद्ध की विभीषिका से त्रस्त हो कर उसे काव्य का आधार बनाने वाले कवियो की तरह भट्ट जी ने युद्ध को स्वीकार नही किया। उन्होने भौतिकवाद के सर्वग्राही रूप मे युद्ध की परिणति देखी है, अत भौतिकवादी विचार-धारा का खडन करते हुए उन्होने जो कविताएँ लिखी है उन का स्वर बहुत ही उदात्त और आध्यात्मिक है। कवि की दृष्टि मे भौतिकतावाद हमारा अन्तिम ध्येय नही हो सकता । उन की मान्यता है कि—"मनुष्य के 'मैं' और समाज के 'हम' से आगे जहाँ हमारा आत्मानुभूति का पडाव है वहाँ भी हम हमेशा जा कर ठहरते है और वहाँ के सौन्दर्य से हमारा साहित्य प्रफुल्ल हुआ है, जिस मे स्फटिक स्वच्छ सरोवर तट पर सुचिन्तन के आत्मविभोर कल्हारा का मधुर मकरन्द आज भी भीनी भीनी सुरभि ले कर श्रान्त पथिको को तृप्ति प्रदान करता आ रहा है, उसे भूला जाना भी तो जीवन की बडी भूल होगी।" इसी आशय को प्रतिध्वनित करने वाली कविताए 'पूर्वापर' सग्रह मे उपलब्ध होती हैं । युद्ध की विभीषिका पर व्यग्य वाली एक कविता पठनीय है—

रक्तलिप्त, विषदग्ध धरा को नवजीवन-नव प्राण चाहिए,
कुँठित गति, लुँठित सस्कृति को अपना पथ निर्माण चाहिए ।
युद्ध-युद्ध की हृदय-विदारक ध्वनि से व्याकुल विश्व पडा है,
दुबल काँप रहे हैं भय से वली सज रहा सविधान है ।

× × ×

स्वय गरल औ' अमृत बाँटने वाला हम ने आज खो दिया,
सत्य धम का, दया कम का, प्रेममूर्ति सिर ताज खो दिया,
जिस की दृढ पर निभय पग-ध्वनि सुन कर मरण अचेत हो गया,
जिस दधीचि का वज्र अस्थि से सोता विश्व सचेत हो गया ।
उस के अनुगामी को हे नर, बस उस की मुस्कान चाहिए,
रक्तलिप्त, विषदग्ध धरा को नवजीवन, नव प्राण चाहिए ।

आशावादी विचार-धारा से जीवन मे बल और बलिदान की भावना भरने वाले मनोहर गीत तो भट्ट जी ने दजनो लिखे हैं। इन गीतो को पढ कर पाठक का मन एक नई उमग से भर जाता है। रोम-रोम मे उत्साह और उल्लास की लहर दौड जाती है। रोमाचित हो कर मानव जीवन के प्रति आस्थावान होता है और मार्ग की शत-शत बाधाओ से जूझने की उस मे शक्ति स्वय उत्पन्न हो जाती है। आगे बढने वाले युवक चरण न तूफान से विचलित होते हैं और न प्रलय से काँपते हैं—

प्रलय मे, तिमिर मे, न तूफान मे भी
कदम ये रुके हैं न रुक पाएँगे ही ।

जगत की सुबह से चला चल पडा मे,
अडी चोटियाँ पर न पीछे मुडा मैं,
न मैं रुक सका बादलो की घटा मे,
भटकता रहा पर न पीछे हटा मैं,
अडी थी शिलाएँ खडी झाडियाँ थी,
नदी थी तरगित गहन खाडियाँ थी,
उफनती हुई पार करने सरित को
चमकती हुई प्यार करते-तडित को
गगन चूमती औ' उछलती लहर को
लिया बाँध दिन रात को औ' प्रहर को।
कदम से कदम बाँध कर साथ मेरे
चली मृत्यु दिन-रात साँय-सवेरे।
प्रगति रोक दे जो भला कौन ऐसा,
अडे विघ्नन को निगल जाएँगे ही, प्रलय मे, तिमिर मे, न तूफान मे भी,
—कदम ये रुके है न रुक पाएगे ही।

× × ×

इस लम्बी कविता मे उच्च कोटि के वीर रस का उत्साह स्थायी भाव द्वारा कवि ने वर्णन किया हे। कौन ऐसा पाठक होगा जो एक बार इस कविता को पढ कर आशा और उमग से फडक न उठे और जीवन के विषाद-अवसाद से मुक्त होकर कर्तव्य-पथ पर आरूढ न हो। ऐसी कविताओ का युवक-मन पर स्वस्थ प्रभाव पडना स्वाभाविक हे। इसी भाव और शैली की दूसरी कविता भी पठनीय है, जिस मे कवि का आत्मविश्वास बडी सशक्त भाषा मे बोलता है—

मैं पथी, पृथ्वी सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नही,
रुकना कही बीच मे मेरा ध्येय नही, व्यापार नही।
मै सघर्षों का प्राणी हूँ, भय से लू भिक्षा कैसी।
मरण अगर त्यौहार न होता जीवन की दीक्षा कैसी।

× × ×

देह जला कर, भूख भुला कर, घुल-घुल कर जीना मुश्किल,
सदा ताकते रह कर ऊपर अपना खू पीना मुश्किल।
कभी न बरसा है बादल से जीवन दाता अमृत सलिल,
अमृत सलिल की ही आशा मे बैठे रहना है मुश्किल।

× × ×

किन्तु मुझे क्या मैं तो अपना ध्येय एक दिन पाऊँगा,
मरण मिले पर आह न होगी, राह एक दिन पाऊँगा।

मैं देवल नही चाहूँगा, राक्षसत्व की बात नही,
मेरी मानवता मे होगी दु खो की बरसात नही ।"

× × ×

जाति देश की सीमाम्रा मे जीवन नही विकास नही,
मुझे धर्म की विकट रूढि मे बँधने का अभ्यास नही,
हम सब एक, एक है जीवन, बाधव हैं भाई-भाई ।
आत्मनाश की यह कायरता तुम मे जाने क्यो आई ।

इसी प्रकार की अनेक कविताएँ है, जिन्हें 'पूर्वापर' मे कवि ने सकलित किया है। 'ये तूफानी चरण जवानी के, 'नर मे ही सुरत्व पलता हैं', 'हार का अगला कदम ही जीत बन गया, 'जीवन' पावन दीप लिए आया हूँ का शीर्षक कविताओ मे इसी भाव को स्वर मे बाधा गया है। विक्रम सवत्सर पर भट्ट जी की प्रसिद्ध कविता है जिस मे मानव की दो हजार वष की जीवन-यात्रा पर काव्यमयी शैली से प्रकाश पडा है। विगत दो हजार वर्षों मे केवल भारत की जनता ही नही, समग्र विश्व की मानवता की जो अनुभूतियाँ हुई और जिन सभाव्य-असभाव्य स्थितियो मे से मनुष्य की जीवन-यात्रा गुजरी उस की झाँकी इस कविता म मिलती है। विक्रम सवत्सर के साथ भारतवर्ष के उत्थान-पतन की गौरव-गाथा जुडी हुई है। विक्रम की छत्रछाया मे कला, सस्कृति, धम और दशन को जिस रूप मे नवजीवन मिला था, वह आज स्मरणीय कहानी बन गई है।

नाटककार विश्व के कवियुग कालिदास तुम ने देखे,
वाण, अमर, भवभूति, हर्ष औ' दण्डि माघ, तुम ने देखे ।
मम्मट, लल्लट रुद्रट, पडित विष्णुगुप्त, जयदेव अनेक,
तुलसी, सूर, कबीर, बिहारी, हरिश्चन्द्र, कोविद, सविवेक ।"

× × ×

बदलो मरण महाजीवन मे जीवन को जागृत कर दो,
मानव को मानव बनने का, हे सवत्सर नव वर दो ।
आगे की सदियो मे कोई विषम वाद-सवाद न हो,
मानव की दाढो म मानव रुधिर बिन्दु का स्वाद न हो
जीवन मे विवेक हो, सुख हो, परहित का प्रतिवाद न हो ।
साम्यवाद हो, विश्वबधुता, हर्षोत्कष, विषाद न हो ।"

जीवन मे प्रगतिशील तत्वो को स्वीकार करने की प्रेरणा भट्ट जी अपनी प्रत्येक कृति मे प्रस्तुत करते रहे हैं। प्रगति को परिवर्तन के रूप मे स्वीकार करने के कारण उन का काव्य कभी एक रस या परम्परावादी नही बना। हिन्दी साहित्य के छायावादी गीत-युग से कविता लिखने वाले कवि भट्ट जी

ने पहले उसी शैली के गीत लिखे, जब प्रगतिवाद के नाम पर जागरण और वर्ग सघर्ष को चित्रित करने वाली कविताओ का युग आया तब भट्ट जी ने उस का पूरी तरह समथन किया और बडी प्राणवान कविताएँ लिख कर प्रगतिवाद को सुदृढ बनाने मे योग दिया। उन की कविताएँ केवल प्रगति को ध्वनित करने के लिए नही वरन् यथार्थ की भूमि पर खडे हो कर प्रगति का बिगुल बजाने वाली है। उन मे समाज के उस वग की पुकार है जो शोषित के रूप मे पीडा की कराह और विषम वेदना की आह का बोझ ढो रहा है। मजदूर और कृषक की ओर तो प्रारम्भ मे सभी का ध्यान गया था, किन्तु निम्न मध्यवग के शिक्षित कहे जाने वाले दफ्तरी बाबुओ की पीडा का चित्र अकित करने वाले कवि बहुत कम थे। भट्ट जी ने आज के निम्न मध्यवर्गीय जीवन का वणन करते हुए उस के रूप, गुण, शील मे परिवतन की जो झाँकी देखी है, उस का सजीव रूप अपनी कविताओ मे भी प्रस्तुत किया है। "आज की कविता जिन्दगी के हर मोड पर, सघष के हर चौराहे पर, तेज दौडने वाली मोटर के पहिए की हर अचिह्नित रेखा मे दिखाई दे जाती है। वह बोझ से लदी, उपलो को सिर पर उठाए और बगल मे मैले-कुचैले अधनगे, मरियल, नाक बहते बच्चे को दबोचे चली आती नारी की तरह मनुष्य के जीवन की हर सडक पर आप को मिल सकती है। आज की कविता का यही रूप है। वह चाहती है कि अभाव के इस युग मे रेल की लाइन के पास जले-धूधे ढेर मे कोयले बीनती और छीना झपटी द्वारा गाली गलौज कर अपनी डलिया भरती हुई दिखाई दे। वह चाहती है कि वह आप को भूख से तडपती और ठीक तरह उपचार न होने के कारण निमोनिया से मृत अपने बच्चे को स्वय यमुना में प्रवाहित कर के गुमसुम फूटी हुई आँखो मे आद्यन्त महासागर की सम्पूर्ण जलराशि भरे डगमग पैर, किन्तु दृढ आक्रोश के पर्वतो का भार उठाए नारी के रूप मे भी अपने को दिखा सके। उस ने पहली वेशभूषा को छोड दिया है। इस लम्बे उद्धरण मे कविता के रूप और परिवर्तन की बात भट्ट जी ने इतनी सटीक शैली मे कही है कि उस पर मे कोई टिप्पणी करना आवश्यक नही समझता। प्रगतिवादी विचारधारा का इतना जोरदार समर्थन अन्यत्र कम ही मिलेगा। फिर भी आश्चय है कि हिन्दी के प्रगतिवादी कवियो की श्रेणी मे आलोचको या इतिहास-लेखको ने भट्ट जी को स्थान नही दिया। नरेन्द्र शर्मा और अचल की गिनती तो कभी-कभी प्रगतिवाद की चर्चा मे हो जाती है, किन्तु भट्ट जी के नाम का उल्लेख नही होता। यह केवल आलोचको के अज्ञान का सूचक है। उन्होने भट्ट जी के काव्य का विधिवत् अनुशीलन नही किया है। यह ठीक है कि भट्ट जी की प्रगतिवादी कविताएँ प्राय वर्णनात्मक हैं, उन मे न तो गम्भीर विचारो को स्थान मिला है और न सूक्ष्म अभिव्यजक शब्दो को ही। फिर भी प्रगति-चेतना का उन मे अभाव नही है।

भट्ट जी ने खड काव्य से हिन्दी साहित्य मे प्रवेश किया था। वह

छायावादी कविता का यौवन-काल था। छायावादी काव्य शिल्प के प्राय सभी गुण भट्ट जी के पास थे, केवल अव्यक्त या वायवी भावाभिव्यक्ति से वह बच कर चल रहे थे। कथन मे विदग्धता के लिए यह अनिवाय नही है कि वह अव्यक्त भी हो और पाठक उसे समझने के लिए किसी पूर्वापर प्रसग या वचन-वक्रता की शोध करता फिरे। स्पष्ट कथन से भी विदग्धता की स्थिति होती है, यह भट्ट जी के काव्य से सिद्ध होता है। भट्ट जी के गीतो मे लालित्य के साथ लय, ताल, यति, गति का बडी सतर्कता से प्रयोग हुआ है। छन्द का कौशल तो उन की विशेषता है। छन्दोभग का उदाहरण सहज मे लक्षित न होगा। कही-कही अन्त्यानुप्रास या यति के कारण कुछ त्रुटी हुई है तो उस का कारण उपस्थित है और कवि को भी उस का पता है। यदि छायावादी कवियो के बाद किसी कवि को उसी परम्परा मे रख कर अनुशीलन किया जाए तो भट्ट जी का नाम सब से पहले आना चाहिए। किन्तु आलोचको ने इस वग मे भी भट्ट जी को उचित स्थान पर नही रखा है।

भट्ट जी के काव्य और नाटक समवेत रूप है उन के 'भाव-नाट्य' और 'गीति नाट्य'। इन दोनो नाट्य रूपो मे प्राण-स्पन्दन करने वाला तत्व काव्य और गीत ही है। नाटक तो उस के बाह्य शरीर के समान है। अन्तजगत् की भावनाओ के चित्रण से इन का द्वन्द्व या सघष बाह्य न हो कर आभ्यन्तर ही रहता है और कवि को अपनी कल्पना द्वारा पात्रो के मनोभावो के उत्थान-पतन को अकित करना पडता है। ये दोनो विधाएँ वैयक्तिक गुणो से व्याप्त रहती है और भावातिरेक से आन्दोलित हो कर ध्वन्यात्मक चित्रोपमता इन से आद्यन्त अनुस्यूत रहती है। भट्ट जी ने आधे दजन से अधिक भाव नाट्य और गीति-नाट्य लिख कर हिन्दी मे इस विधा को स्थापित करने मे योग दिया है। कहना न होगा कि इतने सजीव और सरस भाव-नाट्य किसी और कवि ने नही लिखे। 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगधा', 'राधा', 'कालिदास', 'अशोक वनवन्दिनी', 'सन्त तुलसीदास', 'गुरुद्रोणाचाय', और 'अश्वत्थामा' मे दोनो विधाओ के दशन होते हैं।

'विश्वामित्र' की कथा पौराणिक है। इस भाव-नाट्य मे कवि ने मानव के मानस द्वन्द्व को जिस रूप मे चित्रित किया है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना परिपूण हो गया है कि पौराणिक पृष्ठभूमि और परिवेश पाठक के मन से लुप्त प्राय-सा हो जाता है और विश्वामित्र और मेनका केवल मानव के रूप मे शेष रहते हैं। नारी का प्रतिनिधित्व करने वाली मेनका का मन विश्वामित्र के प्रति प्रेम से सिक्त हो उठा है और तभी विश्वामित्र भी अपनी तपोभूमि मे एक क्रान्ति की लहर उठती हुई देखते हैं, उन के मन मे तपस्या और अध्यात्म के प्रति शका उत्पन्न होती है—

सब प्रपच अध्यात्म, एक तुम सत्य हो,
यह सौन्दय समग्र सृष्टि का मूल है।

'मत्स्यगधा' मे कवि ने नायिका को नारी का प्रतीक बना कर प्रस्तुत किया है। अनग से सघर्ष करने वाली मत्स्यगधा पाराशर ऋषि को आकर्षित कर वासना के उद्दाम सरोवर मे डुबा देती है। मत्स्यगधा को अनन्त यौवन का वरदान मिलता है और वह राजा शान्तनु की पत्नि के रूप मे आती है। चिर यौवन और स्वच्छन्द विचरण की लालसा ने मत्स्यगधा के जीवन मे जो विलास प्रस्तुत किया वह नारी के अन्तर्द्वन्द्व की सब से अधिक सफल कथा है।

'राधा' शीर्षक भाव-नाट्य भी कवि की कल्पना का वरदान ही है। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला को नवीन रूप मे चित्रित करते हुए कवि ने सामान्य प्रेम-विह्वल नारी के रूप मे उपस्थित किया है।

क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मै
पैर ले जाते मुझे अनजान मे यमुना नदी-तट।

× × ×

चाहती क्या चाहती हूँ, कुछ नही, पर चाहती हूँ,
एक तुम हो, एक वशी, मैं सुनू सुनती रहूँ निशि—
दिवस पल-पल, पक्ष, ऋतु-ऋतु, वष युग कल्पना भी,

वस्तुत इन भावनाओ मे कवि ने आधुनिक जीवन की समस्याओ को भी समेटने का प्रयास किया है। मानव-मन शाश्वत रूप मे एक ही हैं। युग सापेक्ष समस्याओ के होने पर भी मन की गति-विधि तो सदा एक-सी ही रहती हैं। सफल कवि वह है जो मानव के अन्तर-सघर्ष को उस के यथावत् रूप मे समझ सके और चित्रित कर सके।

'अशोक वन वन्दिनी' मे गीति नाट्य की विधा का आश्रय ले कर सीता के अविचल प्रेम और पतिव्रत धर्म का वर्णन है, किन्तु सारी भूमिका है मानस-सघष के साथ। जानकी अकेली है, उस के साथ यदि कोई है तो केवल उस का मनोबल, चरित्र बल और आत्म-विश्वास। वह अपने प्रेम के भरोसे न तो राक्षसियो से डरती है और न राक्षसराज रावण से—उस का विश्वास है कि विरह मे प्रेम की और अधिक परख होती है। प्रेम की कसौटी है विरह। राम के विरह मे उस का समर्पण और अधिक गम्भीर हो गया है—

प्रेम समपरण मे खिलता है प्राण के
उज्ज्वल होता आत्म-त्याग के निकष पर,
उज्जवलतर होता जाता वह विरह मे।
प्रेम अतनु है, शेष वासना से गलित
शलभ दीप पर न्यौछावर होता सदा
रवि शशि उस के लिए, हेय अज्ञात हैं।

× × ×

रगडे जाने पर ही हीरक चमकता
तपने पर ही होता कचन शुद्ध है
प्रेम गहन होता है जलते प्राण मे
यही लिखा लाया है प्रेमी भाग्य मे ।

× × ×

कम एक, विश्वास एक होते जहाँ
दो शरीर मे बहता जीवन एक बन ।
स्पन्दन जीवन का दोनो मे एक ही
होता सृजन वही मानव कल्याण का ।

जानकी का अन्तद्व न्द्व चित्रण करते हुए कवि ने भारतीय नारी की अविचल श्रद्धा, अडिग प्रेम और अटल साधना को साकार बना दिया है। ऐसा विश्वासमय समपण भारतीय नारी की थाती रहा है और यही उसे सघष मे भी जीवित रखता रहा है ।

सक्षेप मे, इन भाव-नाट्यो और गीति-नाट्यो मे कवि ने पौराणिक या ऐतिहासिक कथा को केवल सूत्र-रूप मे ही ग्रहण किया है। वस्तुत अपनी कल्पना के आधार पर ही कथा को मनोवैज्ञानिक रूप मे मोड देना अभीष्ट रहा है। कोई भी कथानक कवि को जड-रूप मे स्वीकाय नही हुआ। यही कारण है कि प्राचीन होने पर भी उन मे नवीनता बनी हुई है ।

काव्य के क्षेत्र मे भट्ट जी परिवतन के समथक रहे है। काव्य रूप या विधा मे परिवतन वह बडे सहज रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योकि उनके पास अभिव्यक्ति की पूरी क्षमता है और भाव-विचार का अजस्र स्रोत है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि खडकाव्य, गीत, प्रगीत, गीति-नाट्य, भाव-नाट्य आदि की परम्परा मे चलने वाले कवि ने नई कविता की क्रान्ति को बिना किसी विघ्न-बाधा या कष्ट कठिनाई को ऐसे अपना लिया जैसे नई कविता के वे पुराने सिद्धहस्त कवि हो। नई कविता की अर्थहीन अभिव्यक्ति को छोडकर सभी ग्राह्य तत्वो को भट्ट जी ने ग्रहण किया और दर्जनो कविताएँ इसी शैली मे लिखी। छन्दशास्त्र के प्रवीण पडित होने पर भी उन्होने छन्द को काव्य का परिधान ही माना और नई कविता के प्रयोगो मे उस का परिहार भी बडे सहज रूप मे कर दिया। छन्द के बन्धन से हीन लयमात्र के सहारे गतिशील एव भावपूर्ण कविताएँ लिख कर भट्ट जी ने अपने चिर नूतन होने का प्रमाण दिया है। नई कविता ने मानव के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए भी उन मूल्यो और मान्यताओ के प्रति अनास्था प्रकट की है जो रूढिग्रस्त होने के कारण प्रभावहीन हो चुके हैं और केवल अजागल-स्तन के समान समाज के साथ चिपटे हुए हैं। भट्ट जी सस्कारी, परम्परावादी और मर्यादावादी है, किन्तु उन्होने नई कविता के प्रयोगो मे मानव के प्रति अपनी

आस्था को अक्षुण्ण रखते हुए रूढियो पर प्रहार करने मे कोई कसर नही उठा रखी है । उनकी नवीन कविताओ का सग्रह 'मुझ मे जो शेष है'— मेरे इस कथन की पुष्टि करने वाला है । असगति, विषमता, विद्रूपता, घात-प्रतिघात, प्रतिशोध, प्रतिरोध आदि भावो ने आज के मानव को न तो पुरातन के साथ सयुक्त रहने दिया है और न किसी सुदृढ विश्वास-भूमि पर उसके पाँव टिकने योग्य रह पाये है । फलत वह भीतर से कुछ और बाहर से कुछ और हो गया है । वह साँप, गिरगिट, कृमि-कीट से बदतर हो गया है । नई कविता मे इन भावो को भट्ट जी ने बडे कौशल से समेटा है और सचमुच नई कविता को नएपन से जोड दिया है । भट्ट जी के काव्य के वैविध्य से आतकित होने के लिए मैंने बात नही कही है किन्तु उन की प्रतिभा के व्यापक प्रसार की ओर मैं हिंदी के पाठको और आलोचको का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ ।

'मानसी' मे भट्ट जी का जीवन दर्शन

श्री विनयमोहन शर्मा

सिंक्लेयर की 'ओशाना' कहती है—"हम कुछ भी नही जानते, हम नही जानते क्या गलत है। हम एक भूल-भुलैया मे है।" जीवन क्या सचमुच भूल-भुलैया है? हम कभी 'दुख' मे हँसते और 'सुख' मे रोते हैं। फूल चुभते हैं और काटो पर उन्माद बरसता है, महकता है। 'सुख दुख' अरूप हैं, अमाप हैं। समष्टि का 'सुख' व्यक्ति का 'दुख' और व्यक्ति का 'दुख' समष्टि का 'सुख' हो सकता है। 'सुख-दुख' की स्थिति कम-परिणाम मे नही, 'विचार स्वीकृति' मे है। 'सुख' की कल्पना सुख और 'दुख' की कल्पना दुख है।

'दुख' की कल्पना क्यो होती है? अरस्तू मानवी प्रेरणा को दुख का कारण मानता हैं। इसी से ग्रीक साहित्य मे दैववाद का अधिक प्राबल्य नही दीखता। यूनानियो ने ससार को खुली आँखो से जिस रूप मे देखा, उसी रूप मे उस का चित्रण किया। 'आसबान' के शब्दो मे उस की कला मे 'सौन्दर्य, सादगी, ताजगी और सत्यान्वेषण की भावना उच्छ्वसित हो रही है। उस मे बुद्धिवाद की प्रधानता है। उस ने यूरोप मे मनुष्य को 'पुरुष' बनाया है, उस मे आत्म-विश्वास पैदा किया है—धर्म और समाज के आडम्बर को ध्वस्त किया है। ग्रीक साहित्य मे प्रकृति के उन विकारो को भी प्रदर्शित किया गया है जिनसे स्त्री, 'प्रेमिका' और पुरुष 'प्रेमी' बनता है। उस मे मनुष्य को तो मनुष्य रखा ही गया है। जीवन मे आशा का अमृत चुआ कर प्राणो में अमर स्पन्दन भरने का उद्योग किया गया है। ग्रीक साहित्य का परिणाम ही यूरोप का 'रिनेसाँस युग' है।

आँग्ल साहित्य में शेक्सपियर युग ने दैववाद को प्रधानता दी। मनुष्य भाग्य की लहरो मे इतस्तत उछलने वाला प्राणी भर रह गया, उस का सामर्थ्य भाग्य मे लुप्त हो गया। हैमलेट के शब्दो मे वह (मनुष्य) अनुभव करने लगा—'दैव ही हमारे भाग्य को बनाता मिटाता है।'

साथ ही मानव स्वभाव के सघष मे भी 'दुख' की स्थिति मानी गई। किन्तु यह सघष व्यक्ति तक ही सीमित रहा। परन्तु अब आग्न-साहित्य मे पुन मानवीय शक्तियो के जागरण का युग आ गया है। शॉ, इब्सन, जान गाल्सवर्दी आदि साहित्यकारो ने रूढिवाद को ठोकर मार कर मनुष्य को ऊँचा

उठाने का उपक्रम किया है। मनुष्य स्वय बुरा नही है, परिस्थिति उसे बुरा बनाती है। व्यक्ति नही, समाज दुख का कारण है। दूसरे शब्दो मे मनुष्य ही अपने 'सुख-दुख' का कारण है, दैव या भाग्य नही। पाश्चात्य साहित्य की यह प्रगतिशील लहर हिन्दी साहित्य मे भी बह रही है।

जग यह मानव का प्रपच है
आप बनाता औ' बिगाडता
आप खोदता अपनी कब्रे
निज को मिट्टी डाल गाडता।" (मानसी)

यहाँ भी रूढिवाद पर बुद्धिवाद विजयी हो रहा है--

जब नारी, नर दोनो ही से सृष्टि है
एक बडा, छोटा हो क्यो कर दूसरा ? (विश्वामित्र)

यथार्थवाद

प्रत्यक्षानुभूति का नाम यथाथ है। साहित्य मे 'रूप' और 'अरूप' दोनो प्रतिबिम्बित होते है। ज्ञानेन्द्रिय-गम्य जगत को हम 'रूप' और उस से परे काल्पनिक जगत को 'अरूप' की सज्ञा देते है। जब 'रूप' वाणी बनता है तब हम उसे यथाथ साहित्य कहते है। साहित्य का ज म कैसे होता है ? जगत के दृश्य और अदृश्य उपकरण अपनी छाया साहित्यकार की राग-भूमि पर डालते रहते हैं, जो आवेग की घडियो मे अभिव्यक्त हो कर साहित्य की सृष्टि कर देते है। जगत के दृश्य और अदृश्य उपकरणो से हमारा आशय क्रमश 'वस्तु' और 'भाव' से है। फूल वस्तु है। 'समीरण के गन्ध-स्पर्श से फूल कितना हर्षोत्फुल्ल हो उठा है'—भाव है। वस्तु हृदय को छू कर उस मे अपने प्रति राग उत्पन्न कराती है। यही राग 'भाव' बनता और 'वाणी' रूप मे साहित्य कहलाता है। यथार्थवाद के साहित्य मे जगत के विचार और विकार दोनो उतरते हैं। वस्तु की तर्क और बुद्धि से की गई मीमासा 'विचार' है और उस से (वस्तु से) उ-पन्न राग-वृत्तियाँ 'विकार' कहलाती है। कँटीली डाली पर फूल खिले हुए हैं—यह 'विचार' हुआ। यदि इसी दृश्य को इस तरह व्यक्त किया जाए।

ये मादक नक्षत्र धरा की
पखुडियो पर फूल बिछाए
अपनी काँटो भरी कहानी
दो दिन मुझे सुनाने आए

तो यह 'विकार' साहित्य कहलाएगा। फूल को देख कर कवि की कल्पना ने राग वृत्ति का सहारा लिया है। 'विचार' मे जहाँ 'विकार' का प्राधान्य हो जाता है वही कविता का जन्म होता है। इतिहास, विज्ञान, भूगोल, आदि विषय 'विचार-साहित्य' तथा कविता, गद्य-गीत, नाटक, आदि 'विकार-साहित्य' कहलाते है।

'मानसी' क्या है ?

'मानसी' मे विश्व का यथार्थ दर्शन है। प्रकृति के रूप-दृश्यो के दृष्टिकोण का सकेत है। उस मे मानवी 'सुख-दुख' का उद्‌गम, उस की स्थिति और उस के व्यापक रूप की अनुभूतिमय विवेचना है। कवि के हृदय राग ने 'विचार' के साथ मिल कर 'मानसी' को 'विकार-साहित्य' के स्थान पर आसीन कर दिया है। विश्व-रूप ने कवि की अन्तरात्मा को झकृत दिया है। उस की झलक 'मानसी' मे स्पष्ट है। वह अपने चारो ओर प्रकृति का विलास देखता है—

पग-पग पर उल्लसित विश्व
रज-रज मे स्वर्गों की बस्ती है।

इस के विपरीत, जब वह मानव जाति को दुख-ज्वाला से जलते हुए देखता है तो उस का हृदय रो उठता है और वह कहने लगता है—

कुसुम अरे, देखो दु खो को,
नर ने उपजाया निज कर से
अपने आप जला भी दी है
इस ने चिता साध के पर से।

मनुष्य मनुष्य का सहार करता है, अमीर गरीब का रक्त चूस कर स्थूल-काय बन रहा है, उस के शरीर पर दीन प्राणियो का रक्त लाली बन कर सचरित हो रहा है और वह (गरीब) अपने अवशेष रक्त को आँसुओ मे बहा कर हत भाग्य जिन्दगी बिता रहा है। रूढि कहती है—"पूव जन्म के कम मनुष्य को भोगने पडते है।" कवि का विवेक कहता है—यह अध्यात्महीन जीवन है, ढोग है, आडम्बर है। दैववाद पर उस का विश्वास नही है—

यह आध्यात्मवाद नीरस के
जीवन की है मजु कहानी
जहाँ ईश्वर के बल पर नर
करता घर जानी मनमानी।
और पूर्व कम तथा पूव जन्म का विश्वास क्या है ?
पूव कर्म की पूव जन्म की—
उलझन मे जग को भटकाता।
आलस, भोग और कर्मों की
दल-दल फैला उसे गिराता।
वह देखता है—
शत्रु अकारण दु ख दे रहा
लूट रहा है, मार रहा है
ओ न्यायी प्रभु देख रहा है
पर पद-पर पर हार रहा है।

आज तक न्यायी प्रभु ने क्या किया है ?—

कुछ न कर सका पीडित के प्रति,
कुछ न किया है अब तक उस ने,
कुछ न करेगा आगे भी वह
निबल को देगा यो चुसने ।

मनुष्य ही अपना 'ब्रह्मा' है, 'विष्णु' है और 'महेश' है। स्वर्ग और नरक भी काल्पनिक और अनिश्चित है। ये 'सूय' और 'तारे' मानव को क्या लाभ पहुँचाते है ? क्या रवि ने प्रकाशित हो कर उस मे आलोक भरा है ? उस के अन्दर किस की चेतना है ? कवि की जिज्ञासा है—

ये तारे गिन सके न मेरी आहो
को, ऋतु बदल न पाया
मैं हूँ कौन, बोलता भीतर
जो मेरा जीवन बन आया ?

कवि प्रकृति मे उल्लास को चारो ओर बरसते देख कर आत्म-विभोर हो जाता है। फूल हँसते है। सरिता आनन्द से उमगती हुई बही जा रही है। कोकिल मस्ती मे गाती रहती है। पर न फूल जानता है कि उस मे हर्ष कहा से खिल उठा, न सरिता जानती है कि वह कहाँ, किस उमग मे चली जा रही है। और कोकिल भी कहती है—

मै न जानती जग की रानी,
क्यो गाती हूँ—क्या गाती हूँ !

वह तो अपने 'वतमान' मे ही मस्त है—

मेरा जीवन वतमान है।
वर्तमान ही तो वह जीवन
अठखेलियाँ सदा करता है
सौरभ के पर उडता यौवन ।

वह न प्राण जानती, न मन समझती, न जीवन पहचानती और न यही मालूम करना चाहती है कि 'तुम और हम किस के हो रहते' हैं। उस ने तो जब से आँखे खोली है, दुनिया को 'मस्तानी' ही देखा है।

कवि की कोकिला इतना जरूर समझती है कि विश्व का प्राणी बन्धन-हीन है, विश्व का सुख सब के लिए है—सब के लिए चुग्गा और पानी है, सब के लिए शान्ति है और वसुधा का भरा खजाना है। इसी से कुहुक उठती है—

गाओ, गाने दो औरो को
रहा किसी का नही जमाना ।

'मानसी' का 'कूहू'—गीत हिन्दी ससार की स्पृहणीय और अमर रचना है।

मानवी जगत मे आशा-निराशाओ का घात-प्रतिघात अविराम चलता

रहता है—

यहाँ टूट जाते है प्याले
होठो को छूने से पहले,
यहाँ लीन होती अभिलाषा
निज प्रिय को पाने से पहले ।

मनुष्य अपने वर्तमान जीवन से कभी सन्तुष्ट नही होता—

इस दुनिया ने कब जीवन को ।
प्रिय जीवन कह कर अपनाया ।

मानसी मे जीवन-समस्याओ की अन्तर-धारा को कवि ने स्पर्श कर उसे आशा, उत्साह और कर्म के पथ पर अग्रसर किया है। सामयिक विचार-लहरी का स्वर उस मे स्पष्ट गूँज रहा है प्रकृति मे फैले हुए यथार्थ को वह मानव-जीवन मे ढालना चाहता है। अत कही-कही वह 'आवेग' न रह कर 'प्रबुद्ध प्रेरक' जरूर बन गया है। परन्तु इस से 'मानसी' की राग-व्यथा कम नही पड गई है। कवि ने 'मानसी' को अलकारो से जकडने का प्रयत्न नहीं किया है। उत्प्रेक्षा और विरोधाभास की सख्या अधिक है, पर उन की कल्पना कष्ट-साध्य बिलकुल नही है। एक विरोधाभास का सुन्दर उदाहरण लीजिए—

अरे यहाँ ठण्डी आहो की
ज्वालामुखियाँ भी तो फूटी ।

जायसी के समान परोक्ष-सकेत भी मिलते हैं। यह कितनी सरस 'समासोक्ति है—

वह अपनी आँखो के मद से
सीच रही है जग फुलवारी
उस के कभी मुसकराते ही
हँस उठती है क्यारी-क्यारी ।

प्रस्तुत मे (अध्यात्म पक्ष) का व्यग्य होने से 'समासोक्ति' अलकार सहज ही आ गया है।

'मानसी' मे जहाँ दैववाद की भर्त्सना है, वहाँ परोक्ष शक्ति का सर्वथा विस्मरण भी नही है, क्यो कि वह (कवि) अनुभव करता है—

चलते जाओ, बढते जाओ,
खीच रहा कोई आकर्षण ।

साथ ही वह जगत को जीवन की 'इति' भी नही मानता—

यह पथ अभी विराम कहाँ है
चलते जाओ, चलते जाओ ।

फिर 'मानसी' की अन्तर-धारा क्या है ? वह मानव को अपनी शक्ति का विश्वास दिलाना चाहती है और वर्तमान कर्म-क्षेत्र में साहस के साथ प्राकृतिक नियमो के पालन की प्रेरणा देती है। वह मनुष्य-जीवन को आँसुओ मे डुबो

कर तिनके-सा बहा देना नही चाहती, उस मे सुख, सौन्दय और आह्लाद की बस्ती बसा कर भूलोक ही मे स्वग उतारना चाहती है।

भट्ट जी ग्रीक क्लासिकल कवि के समान यथार्थ भावना का मोहक दीप सजोकर हिन्दी-साहित्य को ज्योतिमय बना रहे है। उन के गीति काव्य (विश्वामित्र) मे मानव जीवन अपने प्राकृतिक 'भाव' मे प्रतिबिम्बित हुआ है और 'मानसी' मे प्रकृति ने स्वय अपना रूप सवारा हे, जो मादकता नही, कत्तव्य-प्रेरणा को जाग्रत करता है, विस्फुरित करता हे। उस मे मानव को एक निश्चित और आशामय सन्देश मिलता है। समाज को उत्कर्ष के सिंहासन पर आसीन कर उस मे शाश्वत सुख की सृष्टि करना सत्साहित्य का उद्देश्य है।

भट्ट जी एक जाग्रत कलाकार है। वह अपनी रचनाओ मे जिस स्वप्न को देखते हें वह स्वय परिपूर्ण होता है। वह आधी रात को काल्पनिक जगत मे जागते जरूर है पर आखो मे खुमारी भर कर नही। वह सजग हो कर अपने भीतर झाँकते है और जो देखते है उस का एक फोटोग्राफर के समान हू-बहू चित्र खीच लेते है। इस से अनेक चित्रो मे अस्पष्टता अथवा भाव विगोपन नही रह पाता। स्व० प्रसाद के बाद प्राचीन सस्कृति के साथ आधुनिक धारा को समरस बनाने का एकान्त श्रेय भट्ट जी को हे। 'विश्वामित्र' के गीतो की माधुरी स्वर्गीय प्रसाद के गीतो से टक्कर लेती है। यह अत्युक्ति नही, वस्तु-स्थिति है। 'मानसी' हिन्दी ससार मे वर्षों से बहने वाले आँसू और कसने वाली पीडा के ससार को हँसी, आशा और आत्म-गौरव की याद दिलाने वाली विभूति से भर देना चाहती हैं।

भट्ट जी के गीति-नाट्य और भाव-नाट्य

डा० मनमोहन गौतम

शास्त्रीय दृष्टि से नाट्य और नाटक (रूपक) मे अन्तर है। नाट्य-दर्पण के अनुसार अवस्था की अनुकृति नाट्य है। नाटक मे अवस्थाओ की अनुकृति मात्र से काम नही चलता, उस मे रूप का आरोप आवश्यक होता है। नाटक मे क्रियाशीलता और बाह्य सघर्ष की प्रधानता आवश्यक है। नाटक का सम्बन्ध मानसिक भावानुकृति से अधिक है। उस मे बाह्य सघर्षों के स्थान पर आभ्यान्तरिक सघर्ष प्रमुखता पाते है। अन्तद्वन्द्व आधुनिक नाटको की एक विशेषता है। फिर भी बाह्य-सघर्षो के घटा टोप मे उन्हे सीमित क्षेत्र मे ही चलना पडता है। साथ ही वे नाटक की गतिशीलता मे बाधा भी उत्पन्न करते हैं। नाट्य मे बाह्य गतिशीलता को उतना अवसर नही मिलता, मानसिक आलोडन-विलोडन को पूर्ण अवकाश प्राप्त होता है। नाट्य के तीन प्रमुख प्रकार है—नृत्य-नाटय, गीति-नाट्य और भाव-नाट्य। नत्य नाट्य मे आगिक अभिनय का ही प्राधान्य होता है। श्रव्य उस मे कुछ नही होता। इस प्रकार उसमे काव्यत्व नही पाया जाता। नृत्य-नाट्य केवल दृश्य है। गीति-नाट्य शुद्ध काव्य है। इस का विषय रस है। यह रसाश्रित काव्य दृश्य भी है और पाठ्य भी। गीति नाट्य मे गीति-तत्व ही प्रमुख हैं। घटना और व्यापार केवल उपादान मे प्रस्तुत होते हैं। इनके माध्यम से पात्र विशेष के अन्तर्मन के घात-प्रतिघातो का सहजोच्छलन प्रवाहित होता है। गीति-नाट्य मे कठोर नाटकीय अनुशासन नही चल पाता। भावावेग का सहजोच्छ्वास प्रवहमान होता है। उसी के भीतर तक का योगदान शान्त मन्द गति से चलता रहता है। शाश्वत नैतिक तत्त्वो का उद्‌घाटन होता है और इन्ही के मध्य नाटकीयता प्रतिध्वनित होतो है। यह नाटकीय व्यापार इतना शान्त और स्निग्ध होता है कि गीति की भाव-प्रवणता मे किसी प्रकार की अव्यवस्था नही आने पाती। इस प्रकार गीति नाट्य मे नाटकीय सस्पर्श के साथ उच्च कोटि के काव्य-तत्व का समन्वय होता है।

भाव नाट्य गीति-नाट्य का भी अग्रिम चरण है। गीति-नाट्य मे गीति-तत्व की प्रधानता होने के कारण भाव-तत्व प्रधान होता है, वर्ण्य वस्तु गौण होती है। फिर भी वर्ण्य वस्तु और पात्र का चरित्राकन अपना महत्त्व रखता

ही है। भाव-नाट्य मे वर्ण्य वस्तु और पात्र किसी प्रतीक के माध्यममात्र होते है। पात्र ऐतिहासिक हो या पौराणिक, वह किसी शाश्वत मनोभाव का प्रतीक होता है। इस मे चिन्तन की प्रधानता होती हे। शैली गूढ और रहस्यात्मक होती है। गीत ही इस के भी माध्यम होते है, क्योकि अन्य काव्य-रूप इस प्रकार की भावानुभूति का व्यक्तिकरण कर ही नही सकते। इस प्रकार भाव-नाट्य गीति-नाट्य से भी अधिक पाठ्य हे। भाव-नाट्य का अभिनय हो सकता है, किन्तु इस के लिए अनुरूप रगमच और उच्चतम स्तर के सहृदय प्रेक्षको की आवश्यकता है। साराश यह कि नृत्य-नाट्य, गीति-नाट्य और भाव-नाट्य मे काव्य पक्ष उत्तरोत्तर बढता और दृश्य-पक्ष घटता जाता है। नृत्य-नाट्य शुद्ध रगमचीय और भाव-नाट्य शुद्ध पठनीय हो गए है। गीति-नाट्य की स्थिति मध्यवर्ती है।

भट्ट जी के गीति-नाट्य

भट्ट जी के गीति-नाटय है 'अशोक वन वन्दिनी,' 'सन्त तुलसीदास', 'गुरु द्रौण का अन्तर्निरीक्षण,' 'अश्वत्थामा' और 'नहुष-निपात।' अन्तद्व न्द्व की अभिव्यक्ति इन सभी गीति-नाट्यो की धुरी है। लयात्मक मुक्त छन्द का प्रवाह अबाध गति से बहता है। यत्र-तत्र सस्कृत तत्सम शब्दावली धारा मे गत्यवरोध अवश्य उत्पन्न करती है, किन्तु भाव-प्रवणता सब को आत्मसात करती हुई आगे बढती जाती है। सभी गीति-नाट्यो के सवाद चुटीले है और नाटकीय सस्पर्श प्रस्तुत करने मे समथ है। प्रख्यात कथावस्तु को अविकल ग्रहण करके भी भट्ट जी ने उन्हे इस प्रकार ढाला है कि वे आधुनिक विचारानुकूल, तर्कपूर्ण, स्वाभाविक और गीतो के अनुरूप बन गए है। प्राचीन होने पर भी प्रत्येक की कथा-वस्तु नवीन प्रतीत होती है और वर्तमानकालीन नई चेतना को स्पर्श करती है। प्रत्येक गीति-नाट्य का अलग-अलग विवेचन ही प्रयोजनीय होगा।

'अशोक वन बन्दिनी'

अशोक वाटिका मे राक्षसियो के कठोर निरीक्षण मे बैठी हुई सीता अपने प्रियतम राम के ध्यान मे मग्न है। रुदन के रूप मे वह गा उठती है—

तन विषण्ण है उत्पाती स्मृतियाँ चलित
प्रिय की छवि को बाँध-बाँध लाती पुन
किन्तु हृदय की अश्रु-सरित मे डूबती
देख न पाती हूँ अभीष्ट मन राम को।

× × ×

मेरे दुख का छोर न फिर क्यो दीखता
मेरी आशा मिली तिमिर के सिंधु मे।

'रामचरितमानस' मे त्रिजटा सीता जी की 'विपत्तिसगनी है। त्रिजटा की सहानुभूति का कारण गोस्वामी जी ने लिखा है कि त्रिजटा 'राम चरन रति निपुन विवेका' थी। अशोक वन मे नियुक्त राक्षसियो की अध्यक्षा त्रिजटा के लिए इस प्रकार की कल्पना तकयुक्त नही प्रतीत होती। इसीलिए भट्ट जी ने त्रिजटा को आरम्भ मे रावण के समर्थन मे ही सीता को समझाते हुए प्रस्तुत किया है। वह कहती है—

शोक न रो कर छूटता।
धीरज ही पी सकता विष की वारुणी
× × ×
अब दो ही हैं मार्ग तुम्हारे सामने—
रावण को स्वीकार करो या प्राण दो।

सीता प्राण देने को सहष स्वीकार करती है और तिल-तिल जलने, कष्ट भोगने और रावण की तलवार के घाट उतरने मे परम सुख मानती है। सीता के सत्य सकल्प को समझ लेने के बाद उस का हृदय-परिवतन होता है। वह कहती है—

भाग्य रेखा-सी यह सीता अद्भुत अमिट,
क्या ऐसी भी नारी होती हैं कही
ज्ञान कल्पना और ध्यान गति से परे ?

त्रिजटा मे इतना साहस हो जाता है कि वह अन्य राक्षसियो से ललकार कर कहती है—

जाओ, जा कर कहो, जो कि कहना तुम्हे
मै छोड़ूगी नही सत्य का पक्ष जो
लिया, भले ही प्राणदान करना पडे।

जानकी-रावण सवाद नाटकीय है। वह पहले सीता को प्रलोभन देता है, किन्तु जब प्रलोभन की प्रतिक्रिया क्षत्राणी के क्षोभ मे देखता है तब अपने शक्ति-प्रदशन द्वारा उन्हे भयभीत करना चाहता है। जानकी का सयमित क्षोभ हुँकार कर उठता है। वह तर्कों द्वारा उसे निरुत्तर करती है। हार कर जब वह खड्ग उठाता है तब मन्दोदरी का नाटकीय प्रवेश होता है। वह अपने को खड्ग के नीचे कर के इस तक पर उसे विवश करती है कि 'अबला अवध्य है' और अबला को मारना रावण के गौरव के प्रतिकूल है।

'रामचरितमानस' के अनुसार रावण के चले जाने के बाद राक्षसियाँ सीता को त्रास दिखाने लगी। यह त्रास किस कोटि का था तथा सीता ने उसे कैसे सहा, इस का बडा ही सजीव चित्रण भट्ट जी ने किया है। डराने

धमकाने से आरम्भ कर उन्होने साँप-बिच्छू डाले, शूल चुभाए, आग के अगारे पीठ पर फके। सीता ने बिना आँख झपके सभी यातनाएँ सही। श्रीराम की 'स्मृति-माला मे मन का मनका फेरती' हुई सीता आनन्दोल्लसित होती है कि मन्दोदरी का प्रवेश होता है। सीता ने मन्दोदरी से स्पष्ट कह दिया कि उसे बचा कर मन्दोदरी ने कृपा नही की, क्योकि जीना मृत्यु से कही अधिक कष्ट-कर है। साथ ही जानकी ने मन्दोदरी को यह भी समझा दिया कि नारी की शक्ति अपरिमित है। पति के चरित्र की दृढता मे पत्नी का हाथ है।

पति चरित्र की दृढता पत्नी मे निहित
कमजोरी पत्नी की पति का अहित है।

मन्दोदरी आश्वस्त होती है। उसने सकल्प किया कि वह भी पति-हित के लिए सब कुछ करेगी।

इस प्रकार 'अशोक वन वदिनी' गीति-नाट्य मे जानकी के अतमन के सर्वांग का सजीव चित्रण हुआ है। विरह-वेदना मे क्रन्दन करती हुई राक्षसियो की कठोर यातनाओ मे बँधी होती हुई भी उन के सतीत्व और शौय की अग्नि ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट की भाँति ऐसी प्रज्वलित हुई कि त्रिजटा तथा अन्य राक्षसियो, रावण और मन्दोदरी सभी के अभिमान भस्म हो गए। सम्पूर्ण गीति नाट्य मे जानकी के अन्तदर्शन की प्रधानता होने के कारण गीतात्मकता और नाटकीयता का मणि काचन योग हो गया है।

'सत तुलसीदास'

पत्नी के वचनो से मर्माहत हो कर विरागी होने वाले तुलसीदास की कथा गीति-नाट्य मे वतमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे सयोजित है। नवविवाहित रामबोला अपनी पत्नी रत्ना के प्रेम मे उन्मत्त था। ऐसे उन्मादी नवयुवक आज के समाज मे मिल जाएँगे जो रामबोला की भाति पत्नी के पीछे-पीछे ससुराल जा पहुँचे। भट्ट जी ने ठीक ही लिखा है—

क्या न जानती जामाता भी
एक विकट ग्रह के समान है
नही निगलते बनता है वह,
नही उगलते बनता है वह।

ससुराल मे आए हुए नव विवाहित जामाता को देख कर परिवार के सभी लोगो का दुखी होना और रत्ना जैसी सलज्ज नारी का पानी पानी होना स्वाभाविक है। एक ओर रत्ना की यह दशा, दूसरी ओर—

बिना कहे बिन बोले उस ने
रत्ना को आबद्ध कर लिया।

और साथ ही घर चलने का प्रस्ताव भी किया। उत्तर मे रत्ना ने कहा—

यद्यपि तुम को लाज नही है
पर मैं तो निलज्ज नही ।

इस के उपरान्त रामबोला (तुलसीदास) और रत्ना का गीतात्मक सवाद होता है । सवाद बडा ही तकपूर्ण और भावना प्रधान है । धारावाहिक रूप से बात बढती जाती है और परिणति नैराश्य मे हो जाती है । रत्ना नही जानती थी कि ऐसा परिवतन होगा । किन्तु परिवतन देख कर वह मूक रह गई । वह सहमी, पछताई । उस ने देखा कि उस के पति का सकल्प दृढतर होता गया और उसे काय रूप म परिणत होते देर न लगी ।

'सन्त तुलसीदास' गीति-नाट्य मे नाटकीयता का आग्रह है । दो सूत्रधारो के द्वारा कथा का एक बडा भाग गाया जाता है । अन्तदर्शन और अन्तद्वन्द्व की स्थिति कम है । इस प्रकार रगमच के लिए तो अधिक उपयुक्त है, किन्तु गीति-नाटय की आत्मा के दशन इस मे उतने नही होते जितने 'अशोक वन-वन्दिनी' मे ।

'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण'

यह गीति नाट्य अन्तर्द्वन्द्व प्रधान है । आज का युग राजनीतिक युग है । राजनीति के छद्म आवरण मे व्यक्ति अपने को निर्दोष सिद्ध कर देता है,किन्तु अपनी आत्मा के समक्ष उस की वही दशा होगी जो गुरु द्रोण की हुई थी । गुरु द्रोण कौरवो-पाण्डवो के शस्त्र-विद्या गुरु थे, उन्होने कौरव-सेना का नायकत्व किया था । उन का बडा सम्मान था । फिर भी अन्त मे वह आत्मग्लानि के कारण गगा-तट पर चले गए और मृत्यु का आवाहन करते रहे । इस महा आत्मग्लानि के कई दृढ आधार थे । प्रीति रखते हुए और यह जानते हुए भी कि पाण्डव न्याय पर हैं, अथ-प्राप्ति के लिए कौरवा की सेना मे बने रहना, द्रुपद के प्रति प्रतिशोध और प्रतिहिंसा, शिक्षण-काल मे अपने पुत्र अश्वत्थामा के प्रति विशेष पक्षपात का भाव, एकलव्य के साथ विवेक-रहित अमानुषी व्यवहार, द्रौपदी-चीर-हरण के समय तटस्थ भाव से बैठे रहना, ऐसे काय थे जो गुरु द्रोण के अन्तमन को जलाने के लिए पर्याप्त थे । तभी तो वह करुण क्रन्दन कर उठते हैं—

हाय हाय मेरा तन, ताप से नितप्त है ।
कुछ नही किया मैं ने कोई भी सुकर्म धम
केवल प्रमादी मन मोद मे लगा रहा ।

× × ×

हो कर आचार्य भी अनाचार ग्रहण किया,
योग्य और अयोग्य मे विवेक नही कर सका

अर्थ के लिए जिया प्रतिष्ठा को माना सब,
निष्ठा के भ्रम मे अधर्म ही कमाया था।

इस प्रकार 'गुरु द्रोण के अन्तर्निरीक्षण' मे आज के महामहिम राजनीति-विशारद का सटीक चित्रण है। आत्म-विश्लेषण-प्रधान चित्रण मे गीति का स्वरूप निखर पडा है। छाया की नाटकीय अवतारणा विशेष कौतूहल और अभिव्यजना को अवसर देती है।

'अश्वत्थामा'

गीति-नाट्य इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर इगित करता है कि वीर, ज्ञानवान महामानव भी प्रतिहिंसा की अग्नि मे जलता है और जब वह पतन की सीढियो पर उतरने लगता है तब चरम सीमा पर पहुँचते उसे देर नही लगती। सप्त चिरजीवियो मे से एक, महापुरुषार्थी, गुरु द्रोण-पुत्र हो कर भी अश्वत्थामा प्रतिशोध की ज्वाला लिए जल रहा था, उसे नीद नही आ रही थी। बार-बार उस के मन मे यही भाव आ रहे थे—

जल रही है अन्तर मे मथित करती थी मन
तन को जलाती प्राण-प्राण सुलगाती जो,
हाय, आज मैं विवश, हाय, आज मैं निबल
कितना असहाय आज मेरा मन तन प्राण।

कृपाचाय और कृतवर्मा के समझाने पर भी प्रतिहिंसा-अग्नि न दबी और उस ने सोते हुए द्रौपदी के पाँच शिशुओ, धृष्टद्युम्न और उत्तमौजा का विनाश किया। इस की सूचना जब उस ने मृतप्राय दुर्योधन को दी तब पहले पाण्डुसुत से पाण्डव समझ कर उसे हष हुआ, किन्तु भ्रम-निवारण पर महाशोक की स्थिति मे उस ने प्राण-त्याग किया। अर्जुन ने उसे पराजित किया, किन्तु युधिष्ठिर के आदेश पर गुरुपुत्र समझ कर प्राण नही लिया, किन्तु उस के शीश की ज्ञान मणि निकाल ली। । उस के निकलते ही अश्वत्थामा मणिहीन सर्प-सा निस्सहाय और निरुपाय पडा रहा। उस की अजरता और अमरता उस के सिर भार हुई और वह आत्मग्लानि के अनन्त सागर मे डूबता-उतराता रह गया।

इस गीति-नाट्य मे बाह्य-सघर्ष अधिक है। गीति तत्व अपेक्षाकृत निर्बल है। सवाद बडे है। कथानक मे कोई नया मोड या विशिष्ट अर्थध्वनन नही प्रतीत होता। फिर भी सामान्यतया गीत नाट्य के सभी तत्व उपलब्ध होते है।

'नहुष-निपात'

इसे गीति नाट्य की अपेक्षा पद्य-नाटिका कहना अधिक समीचीन है। नाटक मे पौराणिक नहुष की गाथा है। गव और कामान्धता के कारण इन्द्र-

पद प्राप्त करके शीघ्र ही सप-योनि मे पतित होने वाले नहुष की कथा मे विशेष परिवतन नही है। नहुष उवशी-सवाद मौलिक है और नाटकीय स्थिति के लिए विशेष उपयोगी है। कामोन्मत्त नहुष शेक्सपीयर के मोलवोलियो की भाँति अपना सारा विवेक खो बैठता है और उर्वशी के सकेत को स्वीकार कर कामुक प्रणयी की वेश-भूषा मे वैसा ही नाट्य करता हुआ उपहास का पात्र बनता है। नहुष का उन्माद चरम सीमा का उल्लघन करता है। अर्द्ध विक्षिप्त-सा वह प्रलाप करने लगता है। तब उपहास की स्थिति भी नही रह जाती। लम्बी अवधि की तपस्या और यज्ञादि के परिणामस्वरूप इन्द्र-पदवी प्राप्त नहुष की परिणति ! ऐसा लगता है कि नहुष के प्रति दैवी न्याय नही हुआ।

सवाद बडे ही अनूठे हैं। कथा धारावाहिक रूप से चरम सीमा की ओर बढती है और वही पर अन्त हो जाता है। इस प्रकार नाटकीयता की दृष्टि से बडी रोचक और ममस्पर्शी है। सस्कृत-गर्भित भाषा कही-कही बोझिल भी है, जैसे—

स्वय कर्म से दीप्त तप्त काचन-सदृश
अप्रधृष्य, अपने से किंचित कम नही ?
तथा
भुक्तोज्झित पथ पर चलना है कार्य मम
दीर्घतमस मे भी मैं ही स्मयगात हूँ।

नहुष को काम वासना का प्रतीक भी माना जा सकता है। इस प्रकार इस मे भाव-नाट्य का स्पर्श भी प्राप्त हो जाता है। किन्तु भाव-नाट्य की भाव-प्रवणता के अभाव मे इसे पद्य-नाटिका के क्षेत्र से आगे नही ले जाया जा सकता।

भट्ट जी के भाव-नाट्य

भट्ट जी के भाव-नाट्य तीन हैं, 'विश्वामित्र' 'मत्स्यगधा' और 'राधा'।

'विश्वामित्र'

ऋषि विश्वामित्र की पौराणिक कहानी नाम मात्र को है। इस मे वह विश्वामित्र नही है जिन की तपस्या से इन्द्र का आसन डोला और उस ने कामदेव और मेनका के द्वारा इन का तप-भग कराया। विश्वामित्र एक सामान्य पुरुष हैं, जिस मे अहकार की प्रधानता है।

चाहूँ तो ससार चरण पर आ गिरे
और नए ससार बने, नव काल हो

× × ×

कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे
नही मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग

मेनका (नारी) को देख कर उस का अह और जाग्रत होता है। वह कहता है—

क्या तू मुझ को नही जानती, वज्रमति—
मैं हूँ विश्वामित्र, प्रतापी महामुनि ।
मैं चाहू तो क्षरण मे ही नव सृष्टि कर
तुझ जैसी उत्पन्न करूँ शत नारिया ।

किन्तु पुरुष का अभिमान नारीत्व के सम्मुख टिक नही पाता। उस का अह भाव स्वत पिघलने लगता है। वह कहता है—

जाने जाने क्या सोता-सा जागता
तुझे देख कर मन मे लहरे उठ रही ।

वह मेनका (नारी) को आख फाड-फाड कर देखता है, लगता है मानो उसे बिजली छू गई हो, उसका रग बदलता है वह उस पर मुग्ध हो जाता है। यह सब देख कर उसका अह एक बार और जागता है—

नहीं नही मैं स्वय ब्रह्मज्ञानी स्वय
होता मुझ को कभी न कोई वेग है ।

किन्तु यह भाव क्षणिक ही रहता है। वह अपना सब कुछ नारी का मुस्कान पर वार देता है—

सुन्दर यह मुसकान तुम्हारी दीखती
कई सृष्टिया कई योग तप वार दू
यह समस्त ससार तुम्हारी चरण रज ।

इस प्रकार प्रेम का उदय होता है। मेनका (नारी) प्रेम को तीव्र करने के लिए अन्तर्धान् होती है और विश्वामित्र (पुरुष) विरहातुर हो कर विकल होता है। मेनका के प्रकट होते ही प्रेम की परिणति तथा उस के परिणाम-स्वरूप शकुन्तला का जन्म होता है। शकुन्तला के जन्म पर मेनका (नारी) मे वात्सल्य जागता है। वह हर्षोन्मत हो झूमने लगती है—

इस के सम्मुख स्वर्ग, सुधा, सुख हेय है
हेय मान, सम्मान, ज्ञान अपवग भी ।

उर्वशी (नारीत्व का अह रूप) उसे जगाती है—

भूल गई क्या अपने ही उद्देश्य को
भूल गई क्या जीवन की मृदु रागिनी ?

और मेनका—

लो यह अपना पाप-पुण्य जो भी कहो
मैं जाती हूँ तुम्हे तुम्हारा सौप कर ।

कह कर वह चली जाती है। उधर विश्वामित्र (पुरुष) भी अपनी

निर्बलता पर झुँझलाता है—

मैं बनने ब्रह्मर्षि चला था, दु ख हा
राजा बनने चला भिखारी बन गया।

और फिर 'अह' की खोज मे निकल पडता है। बालिका का स्नेह उसे रोक सकने मे असमथ हो जाता है।

इस प्रकार 'विश्वामित्र' पद्य नाट्य नही है। इस मे नर और नारी के आकर्षण विकर्षण के क्रम का उद्घाटन किया गया है।

विश्वामित्र पुरुष के अह का प्रतीक है और उर्वशी नारी के अह का। मेनका शुद्ध नारीत्व का प्रतीक है। पुरुष का अहकार यदि कही पराभूत होता है तो नारी के समक्ष। काम-भाव अहकार को दबाता है, अहकार के दबते ही प्रेम का उदय होता है। नारी का अह (उर्वशी) पुरुष के प्रति घृणा भाव बनाए रहता है, किन्तु स्वस्थ नारीत्व (मेनका) स्नेह-दान द्वारा पुरुष की कमजोरी का लाभ उठाता है। प्रेम की चरम परिणति विलास तथा उस के परिणाम-स्वरूप सन्तानोत्पत्ति के उपरान्त दोनो का अह फिर जगता है और पूर्व स्थिति पुन आ जाती है। भावो के उत्थान-पतन का यही चक्र 'विश्वामित्र' भाव-नाट्य की कथा का आधार है।

'मत्स्यगधा'

महाभारत मे सत्यवती (मत्स्यगधा) की जो कथा प्राप्त होती है, उस का नाम मात्रीय आधार इस भाव नाट्य मे लिया गया है। महाभारत के ककाल से नई रचना की गई है। नारी यौवन का आधेय है। नारी मे यौवन की कामना स्वाभाविक है। यौवन के साथ काम-वासना का उदय और वासना-पूर्ति आवश्यक है। एक तो काम-वासना की परितृप्ति सम्भव नही, दूसरे वासना-पूर्ति के साधनो के अभाव मे यौवन अभिशाप हो जाता है। इसी तथ्य को भाव नाट्य मे रूपान्तरित किया गया है।

शैशव के उपरान्त यौवन का आगमन चुपचाप होता है। मत्स्यगधा अपनी सखी शुभ्र से कहती है—

जाने कैसा हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएँ बिखरती है।

यौवन के साथ ही अनग का समागम होता है। काम-भाव के साथ ही वासना पूर्ति की आशका उत्पन्न होती है। मत्स्यगधा कहती है—

ओ अनग, ओ अनग
मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपायहीन।

किन्तु यौवन के साथ अनग का साहचय शाश्वत है। परिणाम स्वरूप उद्दाम वासना का उदय होता है। वह बोल उठती है—

हा हा, यह कठ अवरोध कर देने वाली
दाहकर, सुखकर पिपासा न शान्त होगी ?

सामने पाराशर (पुरुष) को खडा देख वह कह उठती है—

है-हैं यह कौन प्रिय यौवन का एक दीप
नर-अभिलाषा का निपट अवसान पुंज।

उसका हृदय आत्मार्पण के लिए विकल हो जाता है। समपरण से पूर्व लोक-लज्जा, धर्म, समाज आदि के भय सम्मुख आते हैं, किन्तु काम की परिणति मे सभी शकाओ का समाधान हो जाता है—

ऊँच नीच कोई नही, पाप-पुण्य कही-नही
कर्माकर्म कुछ नही, ओ अनग रजिते।

मत्स्यगधा का जाग्रत नारीत्व चिर-यौवन का वरदान माँगता है। प्रथम समागम मे ऐसी आकाँक्षा स्वाभाविक है। पाराशर वरदान तो देते है, किन्तु चेतावनी देते है कि प्रिय सदा प्रिय नही रहता। मत्स्यगधा (उद्दाम यौवन) आनन्दविभोरता मे परिणाम नही देख पाती और वरदान ले ही लेती है।

'शान्तनु' (वासना पूर्ति का साधन) की मृत्यु के उपरान्त यौवन अभिशाप बन जाता है। मत्स्यगधा करुण क्रन्दन करती है—

यौवन के सागर का अन्त ही नही है कही,
मेरा मन तूफानो मे उडा हुआ जा रहा।
मेरा स्वार्थ हीन हुआ हाय, पुण्य पाप बना,
आशा ओ, उमग हुई भार है अनन्त की।

वह अनग से प्रार्थना करती है कि चिर-यौवन का वरदान समाप्त हो। किन्तु माँगने से क्या यौवन लौटाया जा सकता है ? मत्स्यगन्धा विपन्न हो जाती है—

हाय मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप,
अपमान दृष्टि है। न अन्त है अनग रग ?

'राधा'

'राधा' मे नारी का परम सात्विक रूप है। कदाचित् मत्स्यगधा का विलोम रूप ही प्रस्तुत करने के लिए भट्ट जी ने राधा की अवतारणा की है। मेनका और मत्स्यगधा मे स्त्रीत्व का वह रूप है। जिस का काम से घनिष्ठ सम्बन्ध है। काम उस के लावण्य, यौवन और प्रणय का असपृक्त रूप है। राधा मे नारी अनुराग का आध्यात्मिक स्वरूप है। अनुराग की उत्पत्ति बडे ही सहज और अनजान रूप से हो जाती है, वह स्वय नही जान पाती कि क्या हो गया है—

और कहती जा रही अज्ञात पथ मे भूल, सब कुछ
भूल सब अपना पराया स्मृति विकल का भार ले कर
ढो रही हूँ क्या न जाने क्या न जाने खो रही हू।

वासना का उस मे स्पर्श भी नही है—

मग्न थी बहती चली आ रही अनजान पथ से
कुछ न ले कर कुछ न पा कर,

प्रेम की पराकाष्ठा इतनी कि उस ने जगत् के सभी बन्धन नष्ट कर डाले—

व्यथित कर डाला हृदय ही,
और मथ डाले पुराने सभी सस्कार-सागर
पीस डाली रूढियाँ औ ढहा डाले नियम जग के ।

सात्विकता इतनी है कि बदले मे वह कुछ नही चाहती—

चाहिए मुझ को न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उन के

× × ×

मै न कुछ भी चाहती हू, चाहती हूँ यही केवल
मूर्ति उन की हृदय मे रख प्राण की आकठ-पीडा
छलकती पीती रहूँ, पीती रहू युग-युग प्रलय तक ।

अन्त मे कृष्ण के द्वारा राधा का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—

राधिका थी और कोई नही केवल प्रकृति सुन्दरि
स्नेह की, सुख की स्पृहा की त्याग की अनुराग-वाणी ।

× × ×

पूर्ण जीवन वासना से हीन मानव-कामना का ।

इस प्रकार 'राधा' मे भाव-नाट्य की आत्मा आभासित होती है, किन्तु इस मे 'विश्वामित्र' तथा 'मत्स्यगधा' की भाँति भाव-नाट्य का पूर्ण प्रतिफलन नही मिलता। इस की कथा-वस्तु मे प्रतीक भावना का पूर्ण निर्वाह नही मिलता। इस नाटक की राधा पुराणो और काव्यो मे प्राप्त राधा से भिन्न नही है। चण्डीदास की राधा की भाँति राधा विवाहिता है। विवाह से पूव भी वह कृष्ण से अनुराग रखती थी। उस ने सात्विक प्रणय पर ससार के सभी सम्बन्धो को निछावर कर दिया। बीच बीच मे प्रेम और उन्माद का भेद, कृष्ण के समाज-सुधारक रूप का स्पष्टीकरण, वर-निर्वाचन पद्धति, धर्म, समाज आदि के सम्बन्ध मे तर्क-पूर्ण विवेचन भाव नाटय की भाव-धारा को विशृखल कर देते हैं। राधा को छोड कर अन्य पात्रो—कृष्ण, नारद और विशाखा—मे प्रतीक-भावना का निर्वाह नही हो पाता। इस प्रकार लगता है कि नाट्यकार ने भाव-नाट्य का जो लक्ष्य रखा था, उस मे राधा के परम्परागत कथानक और आध्यात्मवादी दृष्टिकोण ने व्याघात उत्पन्न कर दिया। गीति-नाट्य की कसौटी पर परखने मे अवश्य ही यह खरा उतर सकता है। सम्पूर्ण वृत्त राधा के विरहोन्माद और प्रणयोल्लास के सहज गीतात्मक स्वरूप से

आपूरित है।

गीति नाट्य और भाव-नाट्य के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भट्ट जी ने इस क्षेत्र मे अभूतपूव सफलता प्राप्त की है। नाट्य कला के आधुनिक रूपो मे गीति-नाट्य और भाव-नाट्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कम नाटककारो ने इस क्षेत्र मे पदार्पण किया है। प्रसाद जी के 'करुणालय' से जिस गीति-नाट्य-धारा का विकास हिन्दी मे हुआ उस के सर्वश्रेष्ठ कलाकार भटट जी ही हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ को छोड किसी अन्य भारतीय भाषा मे भी इस क्षेत्र मे भट्ट जी से होड लेने वाला अन्य नाटककार नही है। इस दृष्टि से भट्ट जी परम अभिनन्दनीय है।

भट्ट जी के नाटकों में गीतो का सौष्ठव

सुश्री मनोरमा शर्मा

नाटक मे गीतो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीतो के द्वारा ही मानव अपने हृदय की भावनाओ की अभिव्यक्ति करता है, क्योकि उसके हृदय मे जिस प्रकार की भावनाओ का उद्रेक होता है उसी प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति गीत मे होती है। "गीत मानव हृदय का एक राग है जो आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्ररणा देता है।" दूसरे शब्दो मे कह सकते है कि जब वेदना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तभी गीत गाया जाता है। इस स्थिति के लिए कवि को सयम की परिधि मे बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नही। कारण, हम भाव की अतिशयता मे कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उस के उपरान्त सस्कार मात्र मे मर्म-स्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवाय है। वास्तव मे कवि को आर्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावो को सयम से बाधना होता है तभी उस का गीत दूसरे के हृदय मे उसी भाव का उद्रेक करने मे सफल होता है।

नाटक मे गीतो का होना अनिवाय है, क्योंकि रगमच पर मनोरजन का सब से सुन्दर साधन यही है। अन्त करण के सूक्ष्म भावो का व्यक्तिकरण गीतो के द्वारा ही होना है। परिस्थिति के अनुसार मानव की अन्तरात्मा जिस प्रकार की भावनाओ से उत्प्रेरित है, उसी का सजीव चित्रण गीत मे होता है। गीत के अभाव मे नाटक अपूर्ण है, क्योकि नृत्य, गीत, चित्र तथा काव्य की सन्धि का नाम ही नाटक है। यही गीतो का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

नाटक मे गीतो का शास्त्रीय महत्त्व भी हैं। नाटक मे गद्यमय सवादो के रहने से जो शिथिलता छाई रहती है, उस से पाठक या दशक का मन ऊब जाता है। अत नाटको मे गीतो का रहना अनिवार्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये गीत चरित्र-चित्रण मे भी सहायक होते हैं, क्योकि वह पात्रो की प्रवृत्तियो का दिग्दशन कराता है। इस के अतिरिक्त गीत रस के उद्रेक और परिणाम की परिणति मे भी सहायक होते है। गीतो की स्थानीय उपयुक्तता और उन का भाव प्रदर्शन नाटक-दृश्यो को और भी अधिक तीव्र बना देते हैं। सक्षेप मे नाटक मे गीत-योजना के निम्न कारण है—१ दशको के मनोरजन के लिए, २ रस-परिपाक-योजना मे सहायता के लिए, ३ परिस्थिति

का विधान करने के लिए, ४ मनोविज्ञान की सहायता के लिए। ५ पात्रो के चरित्र-चित्रण के लिए।

भट्ट जी के नाटको मे गीत

भट्ट जी के नाटको मे गीतो का सफल समावेश हुआ है। नाटको मे गीतो की सफलता के कारण वे गीतो के अधिनायक कहे जा सकते है। भट्ट जी भावावेश के कारण कल्पना लोक तक जाते हुए भी ससार की यथार्थ भूमि को नही त्याग पाए हैं। उन के गीत दार्शनिकता के असह्य भार से भी मुक्त है। उन के गीतो मे नाटकीय उपयुक्तता सफलता से अकित हुई है। चाहे उन के नाटकीय गीतो की स्वतन्त्र सत्ता न हो, फिर भी वे वातावरण और प्रसग से, पात्र के चरित्र और मनोदशा से पूर्णत सम्बन्धित है। नाटककार ने अत्यन्त सयम से काम लिया है। कवि-हृदय की भावुकता के पीछे भट्ट जी नही भागे हैं। भावो की सरलता और भाषा की प्रासादिकता के कारण कथानाक को सजीवता देने वाले उन के गीत अनायास ही अन्य नाटककारो से अधिक नाटकोचित हैं। उन के गीत कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण समय और देश के अनुकूल तो हैं ही, वे सामाजिको की भावनाओ के साथ भी बन्धे हुए है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से भट्ट जी के नाटकीय गीतो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) राष्ट्र-प्रेम या देश-भक्ति सम्बन्धी गीत
(२) एकता के प्रचारक गीत
(३) विरह-गीत
(४) मिलन-गीत
(५) प्रणय सूचक गीत
(६) प्रयाण-गीत
(७) मन की विवशता के द्योतक
(८) चरित्र के प्रकाशक
(९) राजनीति सम्बन्धी और,
(१०) दार्शनिक और प्रकृति सम्बन्धी।

भट्ट जी के ऐतिहासिक नाटको के गीतो मे देश-प्रेम और राष्ट्रीय गीतों की अधिकता है। उन के राष्ट्रीय गीत उदासीन और सुप्त जनता को जगाने वाले, देश का महत्त्व बताने वाले दृढ विचारो के सूचक हैं। कर्त्तव्य की पुकार और आह्वान ने गीतो को ओज-गुण दिया है। इन गीतो मे प्रेरकता के साथ-साथ उद्बोधकता भी है—

उठो वीर भारत माता के, माँ ने तुम्हे बुलाया है,
कस कर कमर अमर बनने का सुन्दर अवसर आया है,

शत्रु उठा आता आन्धी-सा करने को यह देश विनाश,
पीस डालना उसे कुचल कर, रखना भारत माँ की आस,
रण मे जीवन देना डट कर सम्मुख यह सिखलाता है,
उठो वीर भारत माता के, माँ ने तुम्हे [1]

इसी प्रकार अन्य अनेक गीत निर्जीव प्राणो मे प्राणो का सचार करने वाले है। अपनी आन के लिए युद्ध करने की ललकार उन के गीतो मे विद्यमान है—मधुआ का गीत

घनघोर युद्ध घिर आते है जब दाएँ बाएँ दलबल-से,
तब वीरो के मन हँसते हैं उठते हैं शस्त्र अकथ बल से,
निर्झर से झरने झरते हैं जब रुधिर-धार से भूतल पर,
उद्दण्ड प्रचण्ड बने योद्धा तब हँसते निखिल धरातल पर।

× × ×

वह आज समय फिर आया है रुद्राट्टहास का सगर मे
कण कण कर अरि को दल देगे रक्तो के न्हाकर सागर मे।[2]

स्त्रियो को उत्साहित करता हुआ देवकी गाता है—

धमक जायगी धारा, काँपेगी भूधर-माला,
कडकगी जब स्त्रिया प्रखर बन विद्युज्ज्वाला,
रुधिर-धार बन सिन्धु शत्रु मज्जित कर देगा
पल-पल शतदल काट रुधिर सागर भर देगा
बि दु बना कर उदधि, उदधि को कण कर देंगी,
शक्ति समुद्र नसो मे जग की फिर भर देंगी।[3]

उन के ऐतिहासिक नाटको के अनेक गीत राष्ट्र-प्रेम को जागृत करते हैं। 'शक-विजय' मे भारतीय-सेना का विजय-प्रवेश के उपलक्ष्य मे गाया हुआ गीत प्रत्येक सैनिक की राष्ट्र भक्ति का परिचायक है—

आओ जय-जय गान करें!
चिर विजयी चिर वीर देश का प्राणो से सम्मान करें।
भारतीय हम धम कम से भारतीयता की जय हो।
रामकृष्ण की महावीर की बुद्ध भूमि महिमामय हो!

× × ×

कौन रोक सकता जय-रथ को जब हम मिल प्रस्थान करें,
कौन रोक सकता जय-पथ जब खरतर शर सधान करे।

---

१ दाहर अथवा सिन्ध पतन, पृष्ठ ९५-९६
२ वही, पृष्ठ ९१-९२
३ वही, पृष्ठ ९८

इस सस्कृतिमय महा उदधि मे कौन बचा शक हूण यहाँ,
भारतीय विज्ञान-अग्नि ने किस को दिया न भून यहा,
शत्रुजय मृत्युजय विजयी भारत का आह्वान कर,
आओ जय-जय गान करे।"[1]

देश-विजय के हेतु सम्मिलित गान भी उत्कृष्ट है—

"जय हो जय हो देश की !
उषा स्नात सस्कृति से शीतल निमल छवि विश्वेश की
सागर चुम्बित जन पूजित पद
हिम मणि मुकुट छटा भ्राजित पद
महिमा मण्डित ज्ञान अखण्डित भारत भूमि स्वदेश की
जय हो जय हो देश की।"[२]

कुछ राष्ट्रीय गान बहुत उत्तेजक है। 'विक्रमादित्य' का निम्नाकित गीत राष्ट्-प्रेम के वीरो का जय गान करता है। विक्रमादित्य की विजय पर नर्तकियाँ गाती है—

जय जय जीवन नभ उजियारे, जय विक्रम महाराज !
जय विभूति भावो के प्यारे जय जीवन अधिराज !
चचल राज्य श्री के अचल
भू रक्षक ध्रुव धीर सुनिमल
एक छत्र मणि नृप मणि मण्डल
काम कला चख तारे"[३]

भट्ट जी के ऐतिहासिक नाटको का लक्ष्य असाम्प्रदायिक भावना है। उन के मानस मे एकता की भावना निरन्तर जाग्रत रहती है—

"काश्मीर से अन्तरीप तक एक शक्ति सस्कृतिमय हो
कॉबोज से कामरूप तक भूगतिमतिमय अक्षय हो
उस वर दायक विघ्न विनायक भारत पर अभिमान करें।"[४]

युद्ध के प्रसग मे जो राष्ट्र-गीत है, व प्रयाण-गीत का अच्छा उदाहरण हैं। किन्तु प्रसाद के गीतो के सदृश प्रवाहमय, परिमार्जित और प्रभावशाली रूप भट्ट जी के गीतो मे नही मिलता। युद्ध के आह्वान के अवसर पर दरबारी कवि मुहम्मद-बिन-कासिम को आशीर्वाद देता हुआ गाता है—

"हे अरब दुलारे जाओ, दुश्मन को खूब छकाओ।
निज देश धर्म की पक्षा करना बढ बढ कर लडना

---

१ शक विजय, पृष्ठ १२३
२ वही, पृष्ठ १२८
३ विक्रमादित्य, पृष्ठ ८५—८६
४. दाहर अथवा सिंध पतन, पृष्ठ ९६

मत पीछे कदम हटाना मत दाएँ-बाए जाना
दुनिया को रग दिखाना, अपना सब देश बनाना,
हे अरब दुलारे जाओ, दुश्मन को खूब छकाओ।[1]"

भट्टजी के गीत राष्ट्रीय भावना एव देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है। एक गीत मे आदि से अन्त तक एक ही भावना रहती है, जो कि गीतो के आवश्यक तत्व की पूर्ति करती है।

पात्रो के व्यक्तित्व का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन गीतो के माध्यम से पाया जाता है। उन के नाटकीय पात्रो के हृदय मे प्रेम का अजस्र स्रोत बहता है। प्रेम के विरह और मिलन दो तत्व है। दोनो की ही सुन्दर अभिव्यक्ति भट्ट जी के नाटको मे मिलती है—विरह की व्यजना देखिए—'कृष्ण के विरह मे राधा उन्मत हो जाती है। वह प्रतीक्षा से कभी राह देखती है, कभी चित्त के उद्वेग को दूर करने के लिए उठ कर इधर-उधर घूमती है। पत्तो के खडकने से कभी चौकन्नी हो जाती है, किन्तु गाय देख कर हताश हो बैठ जाती है' अन्त मे गाने लगती है—

कौन युग से पथ निरखती
हृदय मे अगार भर कर श्वास से पीडा छिपाए,
प्राण का उपहार ले कर साधना मे स्वर सजाए,
चल रही हूँ मैं युगो से
युगो के पल-पल परखती।
× × ×
फूल-सा हस झड चुका है हृदय का उल्लास मेरा,
सतत पतझर से घिरा-सा, अमा-सा आकाश मेरा।
कही भी तुम को न पा कर—
आँसुओ मे छवि पुलकती,
कौन युग से पथ निरखती।[2]"

गोपा की विरह व्यथा भी दर्शनीय है। वह अपने व्यथित हृदय को इन शब्दो मे सान्त्वना देती है—

दुख हम किस से कहे—सुने कोई,
याद हम किस की करे—सुने कोई।
× × ×
डूब रही नाव कही दीखता सहारा नही,
क्या हमारा मन कही पायगा किनारा नही,
प्रेम हम किस से करे—न है कोई।[3]

---

१ दाहर अथवा सिन्ध पतन, पृष्ठ ८१
२ विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य, पृष्ठ १३८
३ मुक्तिदूत,

गोपा के गीत की ध्वनि से सवत्र सन्नाटा छा जाता है। पशु-पक्षी भी मूक हो जाते है।

मिलन गीत भी उत्कृष्ट कोटि के हैं, उन मे वासनात्मक उद्‌गार कही नही मिलता। कृष्ण-मिलन के उपरान्त राधा गाती है—वह कृष्ण से पागल-सी हो कर लिपट जाती है और प्रसन्नता के अतिरेक से उठ कर नाचने लगती है—

मैं स्वग लूट कर लाई—
जो उफन रहे थे बादल,
इन पलको पर खाते बल
बिजली को हृदय लगा कर
उडते थे ले नव सबल,
उन कपित लहरो पर चढ
शशि सागरिका मे न्हाई।[१]

भट्ट जी के पात्रो की व्यक्तिगत भावनाएँ गीतो के माध्यम से मुखरित होती है। प्रमाण के लिए मुक्तिपथ की नर्तकी द्वारा गाया हुआ गीत शृगार-भावना से पूरित है। इस प्रकार के गीत उद्दीपन रूप को उकसाते हैं। उन मे मादकता और माधुर्य है, आशा और उल्लास है, नतकी के गीतो मे उन्मुक्त वासना का प्राधान्य है। 'मुक्ति-दूत' मे कुमार के मन को परिवर्तित करने के लिए नृत्य के साथ गीत गाती है—

हास भीने स्मृति सजल दृग स्वप्न आलिंगन भिगोए
यह मिली क्यो मधुर सिहरन प्यास साँसो मे पिरोए
मैं मधुरतम स्वप्न सुख पी—
भूल अपना मन चुकी हूँ।
डूब छवि की सरित मे सब
भूल अपनापन चुकी हूँ।
कौन तुम गुपचुप हृदय मे आज बन अनजान सोए
हास भीने स्मृति सजल दृग प्राण मे पुलकन सजोए।

प्रणय और सौन्दय के गीतो मे अतिरम्य शब्द चित्रो की रचना की है और साथ ही भारतीय परम्परा की मर्यादा भी है। गोपा हाथ मे वीणा लिए विवाह के पश्चात् गाती है—

प्रिय पग चढाती चल—
स्नेह जीवन, पुलक के सन,
साधना के सफल नर्तन
कुसुम के उल्लास से मधुमास के उच्छ्वास सबल।

---

१ विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य, पृष्ठ १४७

धडकन जगाती चल,
प्रिय पग चढाती चल।
विरह गीले—स्वर सजीले
बिन्दु मे सागर समीले,
रोम वीणा पर पुलक के स्वर सजाती चली।"[1]

भटट जी ने पात्रो के व्यक्तित्व का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन गीतो के माध्यम से किया है। जीवन की आशा निराशा आदि आप के गीतो की विशेषता है। दाहर अपने पिता की भूल पर पश्चाताप करता हुआ गाता है—

यह भूल अज्ञता का फल है, जो जीवन के तरु पर फूली,
वह सदा चुभी काँटा बन कर वे भूलें आजीवन भूली,
उन की न विषमता नष्ट हुई उन की सत्ता न विलीन हुई
वे उभर उभर कर चमकी हैं, वे फल दे कर ही क्षीण हुईं।[2]

यह गीत समयानुकूल है, साथ ही पाठक वर्णनात्मक वातावरण की नीरसता का अनुभव करने से बच जाता है। इसी प्रकार दाहर अथवा 'सिन्ध पतन' की परमाल देश की पराजय के उपरान्त निराश हो कर गाती है—

दुख स्वप्न अनिल से काप रहे कण आशा के पथ हीन हुए,
स्मृति सुख का रोमन्थन करते सब साधन बिगडे दीन हुए,
दुख के तालो पर थिरक थिरक जब सुख मदमाती लहर चली,
वह साथिन लहरो से हँस कर हा ! क्रमश वही गई निगली।
किस ने परिणामो मे पाया सचित आशा का सिंगार
मैं ससार विहार-स्थल पर निरख रही हू बारम्बार।[3]

भट्ट जी के नाटको मे मन की विवशता के गीत बहुत उच्च कोटि के है। इन गीतो को वेदना-गीत की सज्ञा भी दी जा सकती है। मत्स्यगधा नारी की सामाजिक स्थिति से परिचित है वह सामाजिक बन्धन से भयभीत होती हुई भी मन की सुलभ भावना से पराजित हो जाती है। निरन्तर यौवन के वशीभूत उस की आकुल आत्मा तडफ उठती है—

अपने को चीन्हती स्वधम को भी चीन्हती,
नारी के स्वरूप सुख शोभा मे छिपे हैं देव
सख्याहीन अभिशाप, सख्याहीन यातना।

× × ×

अपयश अपलाप दोनो ही कन्धो पर जमे
जीवित ही नारी का मरण कर डालते

---

१ मुक्तिदूत
२ दाहर अथवा सिन्ध पतन, पृष्ठ २६
३ वही, पृष्ठ ६२

कैसे तोड बन्धनो को, जो अनादि काल से हैं—
आज मैं अबन्ध हो चलूं क्यो अविधेय पथ।[1]

मुक्तिपथ की चन्द्रलेखा और दाहर की परमाल के गीतो मे मनोदशा के अच्छे चित्र है। हृदय का यथार्थ चित्र उन के गीतो मे है। मत्स्यगधा के गीतो मे मानसिक-वेदना का निवास-स्थल है। राधा की विशाखा का प्राण धन उसे बन्धन मे बाँधकर उस के प्राण लिए लेता है। विवश हृदय का इतना मार्मिक चित्रण अन्यत्र नही मिलेगा।

भट्ट जी के नाटकीय गीत पात्रो के चरित्र के प्रकाशक भी है। सगर-विजय की बर्हि मे प्रतिहिंसा, षड्यन्त्र और प्रलय की अग्नि है। इन गीतो के द्वारा पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व का अच्छा चित्रण हैं। बर्हि का चरित्र एव उस के मन का सघर्ष निम्न गीत द्वारा स्पष्ट हो जाता है—

तरल-गरल पीयूष बना कर अरिदल पर बरसाना होगा,
मैं खजर हूँ, मुझे शत्रु को तिल तिल कर तरसाना होगा।

× × ×

खेल-खेल मे मझे मृत्यु का जीवन रास रचाना होगा।[2]

बर्हि का चरित्र कठोर, प्रताडित एव ईर्ष्या और प्रतिशोध की अग्नि मे जल रहा है, किन्तु विशालाक्षी भावुक और सरल हृदया है। वह ममत्व की प्रतिमा है। बर्हि द्वारा पुत्र का हरण किये जाने के उपरान्त वह विक्षिप्त-सी हो जाती है, उस के प्रत्येक अग प्रत्यग शिथिल है। एकाएक गाने लगती है—

मै उखडती हुई साँसो सी उजड कर जा रही हूँ।
याद करने के लिए कुछ आस छोडे जा रही हूँ।
उठ रही चिनगारियाँ इन आँसुओ के बादलो मे।
बीन कर टुकडे व्यथा के प्राण तोडे जा रही हूँ।[3]

उपर्युक्त पक्तियो मे माँ की ममता का प्रदर्शन भट्ट जी ने अत्यन्त स्पष्ट एव सरल शब्दो मे व्यक्त किया है।

भट्ट जी के अधिकाश नाटकीय गीतो मे विश्व-प्रेम, मानवता की पुकार कोमल हृदय की अनुभूति और शान्ति का प्राधान्य है। कुछ गीतो मे पात्रो के आहत हृदय की उदारता और व्यथा को अभिव्यक्त किया गया है। दाहर अथवा सिन्ध-पतन मे युवराज जयश'ह की क्षत-विक्षत अवस्था को देख कर जीवक का हृदय व्यथा से भर जाना है। वह गाता है—

---

१ विश्वामित्र और दो भाव-नाटय, पृष्ठ ७४
२ सगर विजय, पृष्ठ २७
३ वही, पृष्ठ ५२

गीतो मे स्वर भग, हृदय मे भय किसने भर डाला
भव्य भक्ति मे द्रोह, राग मे निर्विषयो की ज्वाला
× × ×
सब कुछ छिपा नाश की तह मे, दुख क्यो टीस रहा है ।[1]

सुखात्मक और दुखात्मक दोनो प्रकार की अभिव्यक्ति करने वाले गीत भी भट्ट जी के नाटको मे है । इन से नाटको मे सवेदनात्मकता और भाव-प्रवणता की वृद्धि हुई है । करुणा-प्रधान होने के कारण रस-सचार मे भी ये गीत सहायक हुए है। त्रिशालाक्षी का निम्न गीत रस-सचार की दृष्टि से उत्कृष्ट है—

आशाओ का पुज अँधेरा बन कर आँखो मे आता है,
फिर रोने के लिए हँसी को कोई यहाँ बुला लाता है ।
× × ×
क्षण भर भी न हाय वे सपने मधुर जागरण ही बन पाए
बुझा दिए झप से झझा ने स्नेह दीप सब जले जलाए ।[2]

वातावरण को प्रस्तुत करने वाले गीत तो भट्ट जी की मुख्य विशेषता है । भट्ट जी के गीत युद्ध के वातावरण को विशेष रूप मे चित्रित करते हैं । अनेक पात्र —परमाल, सूय, चन्द्रलेखा तथा पुरुष पात्र भी—ऐसे हैं जो अपने राष्ट्रीय गीतो से ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं जो युद्ध का सन्देश और जनता को स्फूर्ति प्रदान करते हैं । जहाँ-जहाँ नृत्य-गान के द्वारा विलासमय प्रस्तुत किया गया वातावरण है वहाँ गीतो ने उस वातावरण को और भी रगीन बना दिया है । शक-विजय नाटक मे वरद के आगमन के स्वागत मे सारे यौधेय नर-नारी बालक-वृद्ध एकत्र हो कर नृत्य कर रहे है । कुछ लोग नृत्य के साथ गा रहे हैं—

छलक छलक चले,
सुरा भरे मधुर मधुर चषक ढलक चले
× × ×
सुरा भरे मधुर मदिर चषक ढलक चले ।[3]

अन्य नृत्य-गीत यौवन और विलास मदिरा को विकीण करते हैं । नाटक-कार ने सगीतात्मकता का पूर्णत ध्यान रखा है ।

भट्ट जी सरलता और स्पष्टता के समथक है, अत उन के नाटको मे विचारो की गहनता है और अस्पष्टता का पूर्णतया अभाव है। इसीलिए उन के नाटकीय गीतो मे गहनता और दाशनिकता का प्राधान्य नही है। जहाँ कही

---

१ दाहर अथवा सिन्ध पतन, पृष्ठ ३४
२ सगर विजय, पृष्ठ ७७
३ शक विजय, पृष्ठ ११८

दार्शनिकता को ले कर गीत लिखे गए है वहाँ वे एक प्रेरणा का ही काम करते हे। विक्रमादित्य का गीत उस की दार्शनिक प्रवृत्ति का द्योतक है—

' निशा चषक मे उषा काल की मद लाली उठ जागी,
उन्मादिनि सी दृष्टि तारिका मुकलित हो छिप भागी।"१

यद्यपि विस्तार की दृष्टि से यह गीत बडा है जो कि नाटकीयता की दृष्टि से उचित प्रतीत नही होता, फिर भी पात्र के मनोभावो को व्यक्त करने के कारण ही यह विस्तृत हो गया है।

भट्ट जी के ऐतिहासिक नाटको मे कठोर राजनीति के दाव-पेचो को भी गीतो के माध्यम से व्यक्त किया है। विक्रमादित्य मे सोमेश्वर राजनीति की सफलता का रहस्य उदघाटन करता हुआ गाता है—

अनोखा भेद-नाति-विस्तार
अस्त्र का व्यथ जहाँ व्यापार
मानव हृदयो म जगता है जब तृष्णा का दीप
उसी नीति की पूजा करके बनता रक महीप।"२

और भी इसी प्रकार चन्द्रलेखा विजय के लिए कत्तव्य-भावना को व्यक्त करती हुई गाती है—

बनो मायावी कपटी सग,
अन्यथा अविजय है प्रत्यग,
× × ×
लक्ष्य भेद चिन्ता मैं डूबे बाहर सुन्दर रग।"३

प्रकृति सम्बन्धी गीतो की ओर भी भट्ट जी का झुकाव है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नही। मन की अभिव्यक्ति, अनुभूति की गहराई और जीवन का सन्देश-वाहक बन कर ही प्रकृति भटट जी के गीतो मे आई है। 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य, 'मत्स्यगधा' और 'राधा' मे प्रकृति के सुन्दर चित्र गीनो के माध्यम से चित्रित किए हैं। मत्स्यगधा वैरव्य के उपरान्त प्रकृति मे परिवतन चाहती है। उस के वैधव्य के समय मत्स्यगधा के गीत दुखान्त परिणति की ओर सकेत करते हैं—

मदिर-मदिर यौवन-उभार चल,
मधुर-मधुर मेरे सिगार पल
सप्त सिन्धु एकाकी जीवन
नभ असीम एकाकी यौवन।४

---

१ विक्रमादित्य, पृष्ठ १९
२ वही, पृष्ठ १५
३ वही, पृष्ठ ३६
४ विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य, पृष्ठ ८१

प्रकृति भी पात्रो की मनोभावनाओ के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। विरहिणी राधा कृष्ण-वियोग मे अत्यन्त गम्भीर एव अव-चेतन अवस्था मे गाती है। उसके भावो के अनुसार प्रकृति का चित्र भी अत्यन्त गम्भीर और व्याकुल-सा है—

हो गया यह हास मेरा सब कही उपहास क्यो ?
मैं तिमिर मे खोजती हू हृदय का उल्लास क्यो ?
मुक्त तारक-निचय ऊपर
खेलते खुल गगन भू पर
रे धरा का दीप बन जल चाहता आकाश क्यो ?' [१]

इस गीत की ध्वनि राधा की व्यथा के साथ मानो प्रत्येक प्रकति प्रान्तर से प्रतिध्वनित हो रही है।

'मुक्तिदूत' मे भट्ट जी ने लोरी की रचना भी की है जो मा की ममता का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है—सुकेशी राहु को चुप कराती हुई लोरी गाती है—

सो जा सो जा राज दुलारे, सो जा सो जा। [२]

भट्ट जी के गीतो की भाषा सरल, सरस और प्रवाहमयी शब्दावली से युक्त है। साधारण सामाजिक भी उन से प्रभावित हो सकते है।

पात्रो के गहन सुख-दुख की विभिन्न परिस्थितियो ने गीतो को जन्म दिया है जो सगीतात्मक्ता से परिपूर्ण हैं। उन के गीत मे आदि से अन्त तक एक ही भाव रहता है, जो पूर्णत स्पष्ट है। छायावादी युग के लेखक होने पर भी आप के नाटकीय गीतो मे छायावाद की अस्पष्टता नही आने पाई है। गीतो मे परिव्याप्त प्रत्येक भाव का चित्रण सफलतापूवक अकित हुआ है।

भट्ट जी के गीतो ने ही उन के नाटको को वास्तविक दृश्य काव्य का रूप दिया है। अनेक दृश्य जो रगमच पर प्रदर्शित नही किए जा सकते, इन की प्रतीति भट्ट जी ने सवादो के साथ गीतो द्वारा कराई है। गीतो की शैल। सरल, सक्षिप्त और स्पष्ट होनी चाहिए। यह विशेषता भट्ट जी के गीतो मे पूर्णतया पाई जाती है। उन के गीतो की भाषा मे दुरूहता का पूर्णतया अभाव है। उस मे प्रसाद गुण सवत्र विद्यमान है—

जागो राज दुलारे !
स्मय बिखेरती, अचल हेरती,
खिला खिला कलि, हँसा-हँसा अलि
धीरे-धीरे मन्द समीरे
आती ऊषा ले मजूषा

---

१ विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य पृष्ठ, ९८

२ मुक्तिदूत, पृष्ठ ६७

गीतो के तब द्वारे—जागो राजदुलारे ।[1]

'कुमार सम्भव' के गीत भावपूर्ण और मृदु है। 'राधा' मे नारद द्वारा गीत गोवि द के कुछ पद कहलवाए है, जो मार्मिक और अवसरानुकूल है। 'मत्स्यगधा' के गीतो मे क्षिप्रगति है, नाट्य छटा हे—

मदिर-मदिर यौवन उभार चल
मधुर-मधुर मेरे सिंगार पल ।[2]

मे यौवन का मदिर चित्र है। तीनो भाव-नाट्यो के गीतो मे भावोद्रेक की अधिकता है, भाषा का माधुरी है।

भावानुकूल भाषा के द्वारा गीतो को प्रभावशाली रूप दिया गया है। राष्ट्रीय और देश भक्ति प्रधान गीतो की भाषा मे ओज गुण है तो प्रेम और विरह-मिलन के गीतो मे माधुय। कुछ गीतो मे ध्वनि साम्य और शब्द-साम्य का चमत्कार दशनीय है—

छलक छलककर, ललक ललककर"[3]

और भी—"शत-शत उद्गार, शत-शत हा हा कार—मे तो चित्रोपमता का भी समावेश हुआ है। सगीतात्मकता के लिए शब्द-चयन के साथ लय, सुर, ताल तथा राग-रागिनी का ध्यान भी आवश्यक है। भट्टजी के नाटको को सगीतात्मकता की दृष्टि से हम सफल कह सकते है। यथा—

सजा कर सुख स्वप्नो का साज ।
भेंटूगी प्रियतम से जी भर बुझा विरह विष आज ।
मद के मधुर झकोरो से धीमे सरूर मे भरके—
सौन्दय की सागरिका मे न्हावे सुख, प्रियवर के
वायु विलोडित जल बुद बुद पर नाचू उन्हे रिझाऊँ,
मधुर कुन्द मकरन्द सार स प्रियतम को निहलाऊँ ।[4]

अन्तत भट्ट जी के गीत विविधता लिए हुए है और वातावरण को गति-प्रदान करने मे सहायक है। उन के गीतो का सम्बन्ध वीर, शृगार, करुण और शान्त तथा वात्सल्य, एव प्रकृति-चित्रण से रहा है। उन के नाटकीय गीतो मे भावना और विचार का अद्भुत सामजस्य है। सक्षिप्तता, सहजता, सरलता और प्रवहमानता आदि उन के गीतो की प्रमुख विशेषताएँ है। भट्ट जी के गीत शिल्प-विधि की दृष्टि से भी सफल कहे जा सकते हैं। उन्होने तुक-निर्वाह का उचित ध्यान रखा है। उन के नाटकीय गीत पात्रो की अनुभूतियो से पूर्णत समृद्ध रहे है, व्यथ के वाग्विस्तार का उन मे पूर्णरूपेण अभाव है।

---

१ मुक्तिदूत, पृष्ठ ७५-७६
२ शक विजय, पृष्ठ ११८
३ मुक्तिदूत, , पृष्ठ ७६
४ विक्रमादित्य, पृष्ठ २३

यद्यपि भट्ट जी सफल गीतकार हैं, तथापि वह सर्वथा निर्दोष नही कहे जा सकते—

१ अनेक गीतो का आकार आवश्यकता से अधिक बडा है।
२ अनेक गीतो मे पुनरावृत्ति का दोष भी आ गया है।
३ आरम्भिक नाटको मे गीतो की सख्या का समुचित ध्यान नही रखा है।
४ आरम्भिक नाटको मे एक-एक दृश्य मे ही दो-तीन गीत आ गए हैं।
५ अनेक स्थलो पर सयुक्ताक्षरो की भरमार है जिस के परिणाम-स्वरूप नाटकोचित प्रासादिकता और माधुर्य को आघात पहुँचा है।

आरम्भिक नाटको के गीतो का आकार आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। 'विक्रमादित्य' मे सोमेश्वर और विक्रमादित्य द्वारा गाए हुए गीत अत्यन्त विस्तृत हो गए हैं। 'सगर-विजय' मे गीतो की सख्या यद्यपि कम है, तथापि आकार की दृष्टि से वे बहुत बडे है, जिस के कारण नाटकीयता मे बाधा पडती है। कई गीतो मे पुनरावृत्ति का दोष आ गया है। यदि नाटककार पुनरावृत्ति को बचा सकता तो गीत लघु आकार का हो कर अधिक प्रभाव डालता, किन्तु अब गीत इतना प्रभावशाली नही हो पाता।

अपने आरम्भिक नाटको मे भट्ट जी ने पर्याप्त सख्या मे गीत रखे हैं किन्तु धीरे-धीरे कम करने की प्रवृत्ति आती गई है। 'विक्रमादित्य' मे दस हैं और 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' मे तेरह पद्य और गीत है। 'विक्रमादित्य' मे सोमेश्वर, विक्रमादित्य, चन्द्रलेखा, चन्द्रकेतु, और 'दाहर' मे दाहर, परमाल, समुद्र, मधुआ, देवकी, सूर्य-देवी, ज्ञानबुद्ध, जयशाह सभी को जैसे गाने का रोग है। कुछ गीत केवल पद्य रूप मे ही हैं—यथा

यह भूल अज्ञता का फल है, जो अवसर के तरु पर फूली,
वह सदा चुभी काँटा बन कर, वे भूले आजीवन भूली।"[1]

दाहर के पहले अक के दूसरे दृश्य के अन्त मे दाहर दो पृष्ठो का स्वगत भाषण करके उपयुक्त पद्य बोलता है। 'सगर-विजय' मे यह प्रवृत्ति (गीतो की सख्या) कम हो गई है। केवल चार गीत है। 'मुक्ति-पथ' मे सात गीत हैं, जो अधिक नही कहे जा सकते। 'शक-विजय' मे दो ही गीत रह गए हैं। गीत-योजना की दृष्टि से 'कमला' श्रेष्ठ नाटक है। अन्त मे केवल एक गीत दिया गया है, जो वातावरण और सगीतात्मकता की दृष्टि से बहुत अच्छा है।

'कमला' मे भट्ट जी ने अस्वाभाविकता और उद्देश्यहीनता को अनुभव किया और अन्त में केवल एक गीत रखा। वह गीत सगीत, वातावरण, भाषा की स्वच्छता, राग की तन्मयता से पूर्ण है। उदाहरणार्थ—

चल तू अपनी राह पथिक चल तुझ को विजय पराजय से क्या
भँवर उठ रहे सागर मे

---

१ दाहर अथवा सिन्ध-पतन, पृष्ठ २९

मेघ घुमडते है अम्बर मे—
आँधी औ तूफान डगर मे,

तुझको तो केवल चलना है, चलना ही है फिर हो भय क्या ।[1]

भट्ट जी ने अनेक स्थानो पर पात्रो से जल्दी-जल्दी गीत गवाए है । कही कही प्रथम दृश्य का आरम्भ और अन्त गीतो द्वारा ही होता है । 'विक्रमादित्य' मे पहले अक के दूसरे दृश्य मे सोमेश्वर डेढ पष्ठ का स्वगत भाषण करके एक गीत गाता है और दृश्य के अन्त मे भी अकेला रह जाने पर एक और गीत अलाप देता है । 'विक्रमादित्य' का तीसरा दृश्य भी विक्रमादित्य के गीत से आरम्भ होता है और कुछ स्वगत भाषण करने के उपरान्त वही एक गीत पुन गा देता है। परन्तु दूसरे अक मे चन्द्रलेखा का गीत चरित्र, पात्र, स्थिति और अनुरोध की बहुत बडी माँग पूरी करता है । बार-बार गीतो के आने के फलस्वरूप नाटकीयता मे बाधा पडती है और साथ ही कथानक की गतिशीलता मे भी बाधा पडती है ।

कही-कही सयुक्ताक्षरो ने भी गीतो का माधुर्य बिगाड दिया है—पक्ति के आरम्भ मे स्मय, स्मृति, क्षितिज और विह्वल, निश्चिन्तता, स्वप्न, मत्त आदि शब्द और

१ तजता ग्रीष्माकुल समुच्छ्वास
२ विश्व मे स्वार्थ-सिद्धि सद्भाव

आदि अनेक पक्तियाँ लय इत्यादि मे विघ्न उत्पन्न करती है ।

अत उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भट्ट जी ने अपने नाटको मे उचित गीतो का समावेश किया है । स्थल और सगति के आधार पर वे साभिप्राय है । भट्ट जी ने सगीतात्मकता और स्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखा है । भट्ट जी के गीत पात्रो के आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हैं । कही-कही कथा मे अपूर्व सयोग भी देते है । वातावरण का चित्र भी इन्ही गीतो के द्वारा चित्रित किया गया है । इस प्रकार नाटकीयता की दृष्टि से भट्ट जी के गीत अत्यन्त सफल हुए हैं ।

नाटक मे गीतो का ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है । कवि हृदय होने के कारण भट्ट जी गीतो के अतिरेक से नही बच सके है । परन्तु प्रसाद जी की भाँति भट्ट जी के गीत अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही रखते हैं । भावो मे सारल्य और भाषा तथा कथानक को सजीवता प्रदान करने वाले भट्ट जी के गीत अनायास ही प्रसाद जी के नाटकीय गीतो से अधिक नाटकीय हैं । भट्ट जी के गीत नाटको की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण मे ऐसे सम्बद्ध हैं कि वे पूर्णरूप से नाटक मे ही मिल गए हैं ।

१ कमला, पष्ठ १५५

गीतो मे सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा की जटिलता ने कही भी उन की गति मे बाधा नही डाली है। पात्रो के तीव्र दुख-सुख की विभिन्न परिस्थितियो ने गीतो की सृष्टि की है। भटट जी ने गीतो को यथास्थान तथा परिस्थिति के अनुकूल रखा है, जो कथा को गतिशील बनाने मे सहायक हैं। सुख-दुखात्मक भावो की अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होने गीतो की सर्जना की है।

नाटक साहित्य में भट्ट जी का स्थान

हिन्दी नाट्य साहित्य मे भट्ट जी का विशिष्ट स्थान है। उनका नाट्य साहित्य भी अत्यन्त उच्च कोटि का और महत्त्वपूर्ण है। उन्होने प्रसाद जी की भाँति कवि की आत्मा पाई है जो उन के नाटको मे यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुई है। भट्ट जी के नाटको का विषय क्षेत्र पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक रहा है। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको के द्वारा उन्होने भारतीय जनता को देश-प्रेम, सगठन-एकता, उदाराशयता, मानवता त्याग, विवेक, शौय, सस्कार, आत्मबल दिया है। ऐतिहासिक कथाओ के माध्यम से वतमान जीवन की व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ से सघष की प्रेरणा का चित्रण है। सामाजिक नाटको मे समाज मे उत्प न नवीन समस्याओ और उन से सघष की नई भावनाओ, जीवन की जटिलताओ, मानव के व्यक्ति और समाजगत सघर्षों का चित्रण है। उन के पौराणिक नाटको मे 'अम्बा' और 'सगर-विजय' का प्रमुख स्थान है। अम्बा मे भीष्म पर लुब्ध काशीराज की कन्या अम्बा का कथानक है। इस मे अपमानित नारी के शुद्ध हृदय की फुफकार प्रतिहिसा तथा करुणा आदि प्रवृत्तियो का अत्यधिक मार्मिक वर्णन हुआ है। सगर-विजय भी प्राचीन पौराणिक कथा पर आधारित है।

भट्ट जी के ऐतिहासिक नाटको मे 'दाहर अथवा सिन्ध पतन', 'विक्रमादित्य' 'मुक्तिपथ' और शक-विजय' का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि भट्ट जी के अनेक नाटक इतिहास प्रसिद्ध चरित्रो के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओ पर आधारित है किन्तु अधिकाश नाटक अप्रसिद्ध घटनाओ और चरित्रो पर आधारित है। प्रसाद आदि नाटककारो ने भारतीय सस्कृति और जीवन के गौरव को उद्घाटित करने वाली कथाओ को ही अधिकाशत अपने नाटको का प्रतिपाद्य बनाया है परन्तु भट्ट जी ने अधिकाँशत उन कथाओ को अपने नाटको का प्रतिपाद्य चुना है जो राष्ट्रीय पतन के मूल कारणो पर प्रकाश डालता है। दाहर की कथा सिन्ध पतन की इतिहास विश्रुत घटना है जिसमे भारतीय और इस्लामी सस्कृतियो के पारस्परिक द्वन्द्व तथा वैचारिक प्रत्याघातो का चित्रण है। यह वीर रस प्रधान दु खान्त नाटक है। 'मुक्तिपथ' की कथा सरल है जिसका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन से है। 'शक-विजय' की मुख्य घटना अवन्ती के राजा गन्धर्वसेन द्वारा सरस्वती साध्वी के अपहरण से सम्बन्ध रखती है। उनके ऐतिहासिक नाटको मे धार्मिक सघर्षों का विशेष चित्रण है। 'कमला', 'अन्तहीन'

अन्त', 'नया समाज', 'पावती' उन के सामाजिक नाटक हैं जिन मे लेखक ने मध्यवर्गीय परिवार के जीवन का यथाथ चित्र प्रस्तुत किया है। 'कमला' मे किसान आन्दोलन तथा सामाजिक विषमता का मार्मिक चित्र अकित किया है।

सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक सामग्री को कथानक का रूप देकर एकाकी नाटको की रचना की जिन मे से कुछ सुखान्त हैं और कुछ दु खान्त। इन्ही एकाकियो मे 'जवानी' शीषक एक नाट्य-रूपक भी है। इस के विविध पात्र विविध अपदाथ जगत के तत्वो के रूपक है। 'आगन्तुक' विचार का रूपक है, 'स्त्री' स्मृति का रूपक और 'युवती' जवानी का रूपक है। इस प्रकार के एकाकी हिन्दी मे भट्ट जी की प्रथम रचना हैं।

भट्ट जी का नाट्य-साहित्य भावगत और शैलीगत दोनो ही दृष्टियो से सफल है। नाटयशिल्प मे भारतीय और पाश्चात्य दोनो शैलियो का समन्वय किया है। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण शैली और उद्देश्य सभी दृष्टियो से उन के नाटक उत्कृष्ट है। भट्ट जी की नाट्यकला बहुत मजी हुई है। प्रसाद जी के पश्चात् उन्होने ही नाट्यकला को बडी सावधानी और कुशलता से आगे बढाया है। उन के नाटको पर काव्यमय व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। उन की कला का पूर्ण विकास उन के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटको मे मिलता है। आचाय शुक्ल के शब्दो मे—

"पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वह ऐसे पात्र खोज कर लाए हैं जिन के चारो ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बडी गहरी छाया डालती हुई आती हैं। ऐसी विषमताएँ जो वतमान समाज को भी क्षुब्ध करती है।"[1] यही बात उनके ऐतिहासिक कथानको के सम्बन्ध मे चरिताथ होती है। उन्होने अपने आस-पास के जीवन से जिस प्रकार के वस्तु सघठन का सविधान किया है उसमे भी एक व्यथा है। वही व्यथा उनके नाटको की व्याख्या है। अपने नाटको के दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे वे कहते है—

"वस्तुत नाटक चरित्र का परिवतनशील एव क्रियात्मक अभिव्यक्तिकरण है। घटना, सवाद, गीत उनके साधन है साध्य नही। घटना वैचित्र्य जो नाटक को रोचक बना सकता है स्वय नाटक नही है। इसी प्रकार सवाद से पात्रो का रूप निखरता है, सवाद स्वय नाटक नही है, नाटक तो केवल पात्र हैं।

उन्होने अपने नाटको मे उसी दृष्टिकोण का पूर्ण-रूपेण निर्वाह किया है। उनके नाटको मे उनकी प्रतिभा दु खान्त और वियोगान्त की ओर ही अधिक झुकी है। इस सम्बन्ध मे उनका विचार है कि 'वियोग की अनुभूति मनुष्य को तन्मय बना देती है।'

भट्ट जी ने शैली की प्राचीनता के जजर कण को उच्छिन्न कर पाश्चात्य टैकनीक मे मानव जीवन की विभिन्न समस्याओ को अभिव्यक्त किया है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६९

उनकी आरम्भिक रचनाओ मे जीवन के दु ख और विषाद वेदना और अश्रु-सिक्त भावपक्ष को ही वाणी मिल सकी किन्तु बाद की रचनाओ मे कलाकार यथार्थ जीवन के चित्रो का अकन करता है । इस प्रकार यशस्वी कलाकार की कला प्राचीन और अर्वाचीन दोनो छोरो का स्पश करती है । एक ओर वह वैवस्वत मनु को भारतीय आय सभ्यता का प्रतिनिधि मानकर वणन करते है। दूसरी ओर आधुनिक जीवन के कुकर्मों पर भी प्रकाश डालते हैं । भटट जी की आदर्शवादिता कल्पना के स्वर्णिम पखो पर भ्रमण कर लोक और जीवन की वृत्तियो से परे देव चरित्रो की उद्‌भावना नही करती है वरन् उस आदश का व्यावहारिक और उपयोगी पक्ष भी प्रस्तुन करती है । वह आदश अस्वाभाविक चरित्रो का सृजन न करके जन जीवनमय नव भावनाओ का उन्मेष करता है। उन्होने सामन्ती युग को खोजकर अपनी कल्पना के द्वारा परिस्थितियो का निर्माण किया और तत्कालीन युग के प्रतिनिधि व्यक्तियो को लेकर अपने नाटको को कथावस्तु का आधार बनाया । उनके नाटको मे तिक्त व्यग्य समाज की स्थिति का परिष्कार करने मे सहायक होता है अत भटट जी के एकाकियो की भाषा मुहावरेदार, प्रवाह युक्त तथा व्यग्यात्मक है। भट्टजी की एकाकियो के सवाद प्राय कथा के विकास मे सहायक होते है तथा चरित्र को स्पष्ट करने की क्षमता रखते है। इसके अतिरिक्त वे सजीव सशक्त, पात्रानुकूल, अवसरानुकूल, सरल तथा स्वाभाविक है ।

भट्ट जी ने अपनी प्रतिभा, कल्पना एव भाषा के द्वारा नाटको मे नया परिवर्तन किया है । यद्यपि भट्ट जी से पूव प्रसाद ही ऐसे नाटककार थे जिन्होने 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' 'अजातशत्रु' जैसे मौलिक नाटक देकर नाटकीय क्षेत्र को समृद्ध बनाया । भट्ट जी के नाटक विकसित कला की एक देन है । अपने नाटको के सम्बन्ध मे भट्ट जी की सम्मति इस प्रकार है—

"कुछ आलोचको का मत है कि आधुनिक नाटककार प्रसाद की नाटक मर्यादा से आगे नही बढा है । प्रसाद जी ने नाटकीय उत्कृष्टता की जो सीमा-रेखा बाँध दी है वह अभी तक वही है किन्तु जैसे काव्य का क्षेत्र उन के बाद अपनी दिशा मे निरपेक्ष होकर आगे बढा है उसी तरह नाटक भी प्रसाद के माइल स्टोन से कही आगे बढ गया है मेरा नाटक साहित्य स्वय अपनी एक दिशा है, एक प्रकाश है जो अपने पात्रो के जीवन से आलोकित है ।[1]

इससे प्रतीत होता है कि जीवन का भटट जी को अत्यधिक अनुभव है । यही कारण है कि उन्होने जीवन की उलझनो को सुलझाने का अधिक प्रयत्न किया है । उन्होने जन जीवन के सघर्षों, राष्ट्रीय जागरण तथा सामाजिक

१ विद्रोहिणी अम्बा, पृष्ठ १५

गतिविधि को मुखरित करने मे सतत् प्रयत्न किया है। उनका नाट्य साहित्य समाज को समुन्नत करने की ओर एक प्रयोग है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो मे—

"वे प्राचीन सस्कारो का आदश लेकर नवीन यथाथ के प्रति चिर जागरूक रहे हैं। उनमे मानव के प्रति सहज-निष्ठा, जीवन के प्रति सच्चा अनुराग और इस निष्ठा और अनुराग को मूत्त रूप देने की लगन है आपकी कला, कला के लिए नही वरन् जीवन के विकास और परिष्कार के लिए है। सकेतात्मकता तथा प्रतीक आपकी शैली की विशेषताएँ है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी के ऐतिहासिक पौराणिक नाटको की परम्परा जो भारतेन्दु से आरम्भ होती है। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको के माध्यम से वर्तमान की समस्याओ के समाधान के लिए, भविष्य के उज्ज्वल निर्माण के लिए भारतीय सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए, देश के गौरवमय अतीत का चित्रण हुआ। परन्तु भारतेन्दु कालीन नाटको मे कलात्मकता का अभाव था। उन मे न तो पर्याप्त नाटकीय तथ्य ही थे, न रगमचीयता ही। प्रसाद जी ने कलात्मकता लाने का सफल प्रयास किया है किन्तु वे उन्हे पूणत रगमच के अनुकूल न बना सके। कवित्व आदि के भार से लदे उन के नाटक वग विशेष तक ही सीमित रह गए। वतमान नाटककारो मे 'प्रेमी' जी, सेठ गोविन्ददास, गोविन्द वल्लभ पन्त, 'अश्क', मिश्र जी आदि की अपेक्षाकृत भट्ट जी के नाटक एव एकाकी रगमच और नाटकीय तत्वो की दृष्टि से अधिक सफल हैं। उन्होने रगमच का पूणत ध्यान रखा है। कार्य व्यापार एव वातावरण सम्बन्धी समुचित दृश्यावली का प्रयोग किया है।

भट्ट जी के नाटको की सब से बडी विशेषता है कि वे जन-साधारण का प्रतिनिधित्व भी करते है और साहित्यिक त वो का सरक्षण भी। नाटक साधारण समाज का वस्तु है। इस दृष्टि से जन नाटक लिखने वाले भट्ट जी एकमात्र नाटककार है। वे अपनी-नाट्य-साधना मे सवथा मौलिक है। भट्ट जो अपने नाटको की विषय-वस्तु और उस की टेकनीक दोनो मे ही अपना निश्चित आदश, अपनी निश्चित मान्यताएँ ले कर चले है।

लोक प्रियता की दृष्टि से भी भट्ट जी का स्थान सर्वोच्च है। सस्थाओ, रेडियो-स्टेशनो आदि के द्वारा भट्ट जी के कितने ही नाटक रगमच पर अभिनीत किए गए हैं।

भट्ट जी के सामाजिक नाटको और एकाकियो मे द्वन्द्व की प्रधानता है। 'कमला', 'पावती', 'अन्तहीन अन्त' और 'नया समाज' आदि सामाजिक नाटको मे समाज और परिवार से सम्बन्धित अन्तर्द्वन्द्व का सघर्ष है। बाह्य द्वन्द्व के साथ आ तरिक द्वन्द्व उनकी नाट्य कुशलता का ही परिचायक है। उनकी शैली की सब से बडी विशेषता है कि वे नाटको के आरम्भ से ले कर अन्त तक अपने प्रभाव

---

१ पर्दे के पीछे, भूमिका, पृष्ठ ७

की ओर सचेत रहे है । उनके नाटको मे चाहे आदश की सृष्टि की गई हो चाहे अनेक समस्याएँ उठाई गई हो, भट्टजी निरन्तर प्रभाव की समिष्ट की ओर जागरूक रहे है । सम्पूर्ण नाटक अन्त मे विशेष प्रभाव छोड जाता है । विचारो की विशृखलता उन के नाटको मे नही है । उन का एक निर्धारित लक्ष्य है । जिस से भट्ट जी रचमात्र भी विचलित नही होते । यही उनकी कला का सब से अधिक शक्तिशाली कौशल है ।

शैली की दृष्टि से भट्ट जी की रचनाएँ विचारात्मक और भावात्मक हैं । अपने भाव नाट्य और गीति नाट्यो मे उन्होने भावात्मक शैली का प्रयोग किया हैं । इस शैली मे उन के वाक्य प्रवाहपूर्ण और छोटे होते है । उन का वाक्य-विन्यास अत्यन्त सुलझा हुआ, स्पष्ट और भाव व्यजक होता है उस मे भावो की दुरूहता के साथ साथ एक प्रकार की तन्मयता भी रहती है जो पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । इस भाँति उन की भावात्मक शैली मे अद्भुत प्रवाह और वेग रहता है गागर मे सागर भरना उनकी शैली की परम विशेषता है । लम्बे सवादो मे उन की शैली का रूप विचारात्मक है । इस शैली मे उन के वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बडे हो गए हैं । पर उन मे भाषा की प्राँजलता और स्वाभाविकता बराबर बनी रहती है ।

सक्षेप मे भट्ट जी के नाटको की सामान्य विशेषताएँ है—

(१) भट्ट जी के नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक हैं ।

(२) प्रसाद आदि की भाँति उन के नाटक आलकरिक बोझ से युक्त नही है ।

(३) उन्होने तत्कालीन सम्पूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का निर्माण किया है जिस के फलस्वरूप उन के नाटको मे एक भाव-रचना और सम्पन्नता है ।

(४) ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको मे इतिहास और पुराण का बन्धन स्वीकार करते हुए भी अनैतिहासिक पात्रो की योजना की है जो सजीव और व्यक्तित्व सम्पन्न है । चरित्रो की सजीवता और बहुरूपकता उन का सवप्रथम गुण हैं । सभी पात्र अपना अलग व्यक्तित्व रखते है । देश तथा कालानुसार पात्रो का प्रयोग किया गया है ।

(५) तत्कालीन युगो की सामाजिक, सास्कृतिक धाराओ के साथ उन के नाटको मे वतमान और भविष्य की छाया है ।

(६) नाटको मे एक कथा-प्रवाह है । भट्ट जी के नाटक रगमच की यथार्थवादी पद्धति का अनुसरण करते है ।

(७) दु खान्त, सुखान्त और प्रसादान्त शैली मे रचे गए है ।

(८) प्रेम मूलक अभिव्यक्ति के लिए नारी चरित्रो का निर्माण किया है ।

(९) उन के नाटको के नायक भारतीय आदशवादी परम्परा के प्रतीक हैं ।

(१०) शैली और वस्तु दोनो मे काव्यात्मकता है।

(११) नारी की आदर्श कल्पना के अतिरिक्त उस की आकर्षक और विकर्षक, रमणीक और भयावह कल्पना भी प्रस्तुत करते हैं। अधिकाश नारियाँ इतिहास प्रसिद्ध है। पुरुषो की भाति नारी भी वर्गगत प्रतीक या प्रतिनिधि बन कर आई है।

(१२) वातावरण की सृष्टि सजीव रूप मे की गई है। भट्ट जी के नाटको का दृश्य विधान उन के पात्रो के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देशकाल के अनुकूल हैं। उन के नाटको मे आज की समस्या प्रमुख रूप से प्रतिबिम्बित होती है।

(१३) राजनीतिक समस्याओ के अतिरिक्त अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य सम्बन्ध विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का प्रौढ विवेचन स्थान-स्थान पर है। ये सभी समस्याएँ उस पुरातन वातावरण मे पूरी तरह से सजो दी गई हैं।

अत उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भट्ट जी प्रतिभाशाली कलाकार है। उन के पास सजग कला, गतिशील कल्पना और सुन्दर सुरुचिपूर्ण रचना कौशल है। उन की कृतियो के रचना क्रम को देख कर उन की नाट्य कला का सहज स्वाभाविक विकास सामने आ जाता है।

आधुनिक हिन्दी एकाकी के उन्नायक प० उदयशकर भट्ट

श्री चिरजीत

हिन्दी का पहला एकाकीकार कौन है ? इस सम्बन्ध मे आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहासकारो मे अभी तक मत-भेद चला आ रहा है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पक्षपाती अब सदा के लिए चुप हो गए है। शेष इतिहासकार तीन वर्गों मे बँटे हुए है। एक वर्ग का मत है कि बाबू जयशकर प्रसाद कृत 'एक घूट', जो सन् १९२९ मे प्रकाशित हुआ था, हिन्दी का प्रथम एकाकी है। दूसरा वर्ग इस दावे को काट कर इस मत का प्रतिपादन कर रहा है कि सन् १९३० मे प्रकाशित डा० रामकुमार वर्मा का एकाकी 'बादल की मृत्यु' ही हिन्दी का पहला एकाकी है। तीसरा वर्ग इन दोनो एकाकियो को एकाकी न मान कर इस मत का प्रतिपादक है कि आधुनिक हिन्दी एकाकी की धारा का प्रादुर्भाव श्री भुवनेश्वर प्रसाद के सन् १९३५ मे प्रकाशित 'कारवाँ' से हुआ। परन्तु जब हम प० उदयशकर भट्ट के एकाकी-सृजन-काल पर दृष्टि डालते हैं, तब ये सभी दावे और फतवे गलत साबित होते हैं।

भट्ट जी ने सन् १९२२-२३ मे दो एकाकी लिखे थे 'असहयोग और स्वराज' तथा 'चितरजन दास'। जैसा कि नामो से स्पष्ट है, ये दोना एकाकी स्वाधीनता-सग्राम की भाव-धारा से प्रेरित तथा गाधीवादी राष्ट्रीय विचार-धारा से अनुप्राणित थे और उन दिनो अभिनीत हो कर अनेक देश-भक्त युवको के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुए थे। पता नही, किसी इतिहासकार ने इन मौलिक एकाकियो के आधार पर भट्ट जी को हिन्दी का पहला एकाकीकार क्यो नही माना ? एक कारण तो यह हो सकता है कि भट्ट जी सदैव आत्म-विज्ञापन एव प्रचार से दूर रहे है और सन् १९४७ से पहले वह काशी और प्रयाग से दूर पजाब के लाहौर शहर मे हिन्दी-साहित्य के मूक साधक बने रहे। ऐसे मूक साधक आँखो से दूर होने के कारण दिल से भी दूर हो ही जाते हैं। खैर, उपर्युक्त दोनो एकाकियो के बारे मे यह कहा जा सकता है कि वे भट्ट जी के किसी सकलन मे उपलब्ध नही, परन्तु 'अभिनव एकाकी' नामक सकलन के वे सभी एकाकी—'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर-निर्वाचन' और 'सेठ लालचन्द' आज पुस्तकाकार उपलब्ध

हैं। वे सब तो छायावादी कवित्वपूर्ण सवाद मात्र हैं और न ही पश्चिमी नाटको के छायानुवाद। वे एक दम मौलिक हैं—कला की दृष्टि से भी और शिल्प की दृष्टि से भी। इन्ही एकाकियो के कारण हमारे इतिहासकारो को भट्ट जी की गणना आधुनिक हिन्दी एकाकी के मूल प्रवतको मे करनी चाहिए। इन पाँचो एकाकियो का रचना काल—भट्ट जी के कथानुसार सन् १६२५ और १६३५ के बीच है।

'दुर्गा' जब सन् १६३४ मे 'सरस्वती' मे छपा था, तब उस के परिपक्व शिल्प और शैलीगत सौष्ठव से विद्वानो ने यह अनुमान लगाया था कि इस के रचयिता इस से पूव अन्य एकाकी लिख कर एकाकी विद्या की कला मे सिद्ध-हस्तता प्राप्त कर चुके हैं। विद्वानो की यह धारणा 'एक ही कब्र मे' और 'दस हजार' नामक बहुचर्चित, बहुपठित एव अभिनीत एकाकियो से भी पुष्ट हुई थी, जो 'हस' मे क्रमश सन १६३६ और १६३८ मे प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार सन १६२५ और ३५ के बीच रचित अभिनव एकाकी' के एकाकियो के आधार पर भटट जी को नि सकोच हिन्दी का पहला एकाकीकार माना जा सकता है।

जब हम भट्ट जी के सम्पूर्ण एकाकी-साहित्य पर नजर डालते है, तब यह देख कर सतोष होता है कि उन्हो ने विषयगत एव शिल्पगत वैविध्य और विकास-क्रम द्वारा हिन्दी एकाकी के उन्नायक की भूमिका को पूर्ण रूपेण निभाया है। सन १६२२ से ले कर अब तक भटट जी ने साठ से भी अधिक मौलिक एकाकियो का सृजन किया है, जो 'अभिनव एकाकी' के अतिरिक्त 'स्त्री का हृदय' समस्या का अन्त, 'आदिम युग', 'कालीदास, 'धूम-शिखा', 'पर्दे के पीछे', 'आज का आदमी' आदि सकलनो मे सग्रहीत हैं। ये सकलन हिन्दी एकाकी के क्रमिक विकास के ऐसे सोपान हैं, जिन से निरन्तर नए क्षितिजो का उदघाटन हुआ है।

यह माना जाता है कि शिल्प की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी एकाकी पश्चिम की देन है। हिन्दी के कई ख्याति-प्राप्त एकाकीकारो की कृतियो की विषय-वस्तु एव विचार-धारा मे भी पश्चिम की देन का भरपूर आभास मिलता है। परन्तु भट्ट जी का एकाकी-साहित्य इस का अपवाद है। इन्होने पाश्चात्य शिल्प को मात्र ढाँचे के तौर पर अपनाया है। उस मे हाड-मास भारतीय है, रूप-रग और चेतना भारतीय है, समस्याएँ, आकाक्षाएँ, विचार-धाराएँ, कल्पनाएँ, अनुभूतियाँ यथाथ जीवन की सगतियां-असगतियाँ एव विकृतियाँ सब मौलिक रूप से भारतीय हैं। एकाकीकार के रूप मे भट्ट जी की इस अविकल भारतीयता एव निश्छल मौलिकता ने ही उन्हे हिन्दी साहित्य-जगत् मे सर्वाधिक अभिनन्दनीय एव पूज्य बनाया है।

भट्ट जी के एकाकी मात्र मनोरजन की वस्तु नही। वे जीवन को नई चेतना दे देने के सदुद्देश्य से अनुप्राणित हैं। अपने एक सग्रह 'समस्या का

अन्त' की भूमिका मे अपने नाटको की इस सौद्देश्यता पर प्रकाश डालते हुए भट्ट जी ने स्वय लिखा है—"हमारा जीवन समस्या-मूलक है। हमारे सामने अनन्त समस्याएँ हैं। नाटक ही उन समस्याओ का समाधान उपस्थित कर सकता है। यह एक बहुत बडा प्रचार का साधन है। बीज मे फल की तरह नाटक का एक उद्दश्य होना चाहिए। और समस्या नाटको के लिए तो उद्देश्य का होना परमावश्यक है। रस मनुष्य के मनोभावो मे एक सतुलन, प्रवृत्तियो मे एक सघष, चेतना के प्रति तीव्रता उत्पन्न करता है, मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया-जन्म दर्शक के विवेचक को जाग्रत करता है, त्याज्य और उपादेय की प्रवृत्ति को रगड कर उकसाता है, किन्तु उद्देश्य तो जीवन की वास्तविकता है, जिस के लिए नाटक द्वारा इन गौण चेतना-तन्तुओ को जाग्रत किया जाता है। आज के नाटक का परम तत्व हमारा वैज्ञानिक तर्क-सिद्ध उद्देश्य होना चाहिए। उद्देश्य से मेरा तात्पर्य नाटक लिखने के उद्देश्य से है। जैसे साहित्य मे आज कला जीवन के लिए—जीवन देने के लिए—है उसी तरह नाटक का भी उद्देश्य के लिए होना आवश्यक है।" अपने प्रत्येक एकाकी मे भट्ट जी ने अपनी इस मान्यता को पूर्ण रूपेण प्रतिपादित किया है जाहिर है कि भट्ट जी के नाटको की यह सोद्देश्यता हिन्दी-साहित्य के उन स्वनामधन्य आलोचको को पसन्द नही आ सकती जो पाश्चात्य साहित्य से चमत्कृत हो कर केवल निरुददेश्य कलाकृतियो को ही उत्कृष्ट मानते है।

भट्ट जी के एकाकी साहित्य को कला की दृष्टि से चार मुख्य धाराओ मे बाँटा जा सकता है। पौराणिक-ऐतिहासिक आदर्शवादी धारा, राजनीतिक राष्ट्रीय धारा, सामाजिक यथाथवादी धारा और हास्य-व्यग्य-प्रधान धारा। प्रारम्भिक रचनाओ और 'आदिम युग' जैसे सकलनो मे पौराणिक ऐतिहासिक आदशवादी एव राजनीतिक राष्ट्रीय धाराओ का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। जो बाद मे सास्कृतिक पुनर्जागरण के स्वर ले कर 'कालिदास' नामक सकलन के ध्वनिरूपको मे मुखर हुआ। साथ ही, प्रारम्भ से ही हास्य-व्यग्य-प्रधान धारा 'दस हजार', 'सेठ लाल चन्द', 'नेता', 'बडे आदमी की मृत्यु' जैसे एकाकियो मे परिलक्षित हुई, जिस का कलागत विकास आगे चल कर 'बीमार का इलाज', 'दो अतिथि', 'नए मेहमान', 'विस्फोट', 'अपनी-अपनी खाट पर' जैसी कृतियो मे हुआ। परन्तु भट्ट जी की सोद्देश्य नाट्य-कला का चरमोत्कष अपनी पूरी शक्ति और प्रभावशीलता के साथ उन एकाकियो मे मिलता है, जो सामाजिक यथाथवादी धारा के अन्तगत आते है। यहाँ नाटककार समाज का आलोचक बन कर मध्यवर्गीय एव उच्चवर्गीय जीवन की थोथी अहमयता और घिनौने यथाथ को निरावरण करता है, चेहरो पर से मिथ्या आडम्बर और पाखड के मुखोटे उतारता है, सामाजिक आचार-विचार और रूढिवादी रीति-रिवाजो, कुप्रथाओ, मूढताओ और दकियानूसी विचारो का खण्डन करता है, आधुनिक समाज के कृत्रिम रहन-सहन का उथलापन दिखाता है, आर्थिक

शोषण और वैषम्य की सच्ची तस्वीरे दिखा कर हमे लज्जित करता है। पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुसरण के दुष्परिणामो से हमे सावधान करता है। इस धारा के अन्तगत पिछले कुछ वर्षा मे प्रकाशित 'पर्दे के पीछे' और 'आज का आदमी' नामक सग्रहो की रचनाएँ बहुत ही सशक्त एव मार्मिक बन पडी हैं। 'पर्दे के पीछे' मे सग्रहीत एकाकियो का मूल्याकन करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है—"चिन्तन तथा अनुभव से परिपुष्ट भट्ट जी की जीवन-दृष्टि अब प्राचीन और नवीन, प्रवृत्ति और निवृत्ति अनुशासन और स्वच्छन्दता मे सहज ही सन्तुलन कर लेती है और युग की समस्याओ के मम तक पहुँच कर व्यग्य के द्वारा उन के समाधान की ओर सकेत कर सकती है। उन का व्यग्य केवल काट कर नही रह जाता है, उस मे जोडने की भी क्षमता है। दूसरे शब्दो मे, वह केवल निषेधात्मक नहीं है, रचनात्मक भी है। उस मे भर्त्सना-मात्र नहीं है, सहानुभूति ही है।" इसी सदभ मे कहा जा सकता है कि भट्ट जी एकाकीकार के रूप मे समाज के केवल यथार्थवादी चित्रकार ही नहीं, विचार-निर्माता और पथ-प्रदशक भी हैं।

यह ठीक ही माना जाता है कि भटट जी को बडे नाटको की अपेक्षा एकाकियो मे अधिक सफलता मिली है। इस का मुख्य कारण है एकाकी की टैकनीक पर भट्ट जी का दक्षतापूर्ण अधिकार है। एक आलोचक के शब्दो मे—'उन की इन छोटी रचनाओ मे कथा-सकोच एव एकाग्रता के आग्रह से कल्पना का विकास कम और नाटकीय सवेदना का स्पन्दन अधिक स्पष्ट हो गया है।" भट्ट जी की इस सफलता के पीछे एक गहरा राज है, जिसे उन्होने स्वय ही इस प्रकार व्यक्त किया है—"मेरी दृष्टि मूल भाव पर रहती है। मैं टैकनीक को वही तक उपयोगी मानता हूँ, जहाँ तक वह मूल भाव या समस्या को उदीप्त करे और यथार्थवादिता को नष्ट न करे।"

भट्ट जी के अधिकाश एकाकी पूर्णत अभिनेय हैं, जो तथाकथित साहित्यिक नाटको की अराजकता के इस युग मे एक बहुत बडी उपलब्धि है। जहाँ तक सम्भव हो सका है, भट्ट जी ने रग-मच की मर्यादाओ और अनुशासन का पूरा पालन किया है। भट्ट जी कई वर्षों तक रेडियो से भी सम्बद्ध रहे हैं। रेडियो के माध्यम को हृदयगम करने और उस की टैकनीक की मर्यादाओ के अनुरूप अपनी नाटक-कला को ढालने मे भट्ट जी ने अद्वितीय क्षमता एव प्रतिभा का परिचय दिया है। यही कारण है कि उन के रेडियो नाटक भी हिन्दी साहित्य की अनमोल निधि बन गए हैं। भट्ट जी को कथानक के विकास मे जिज्ञासा और कौतूहल का समावेश करने, वास्तविक जीवन के अनुरूप सही चरित्र-चित्रण करने और पात्रानुकूल सहज स्वाभाविक भाषा मे कथोपकथन लिखने मे कमाल हासिल है। यही नही, वह अपने हर एकाकी मे प्रभाव और वस्तु का ऐक्य स्थापित करने मे पूरी तरह सफल हुए हैं।

यही नाटककार की कला और क्षमता की सब से बडी निष्पति है, सिद्धि है।

अत यह कहा जा सकता है कि भट्ट जी आधुनिक हिन्दी एकाकी के कथ्य और शिल्प—दोनो ही दृष्टियो से—सच्चे उन्नायक है। इन के एकाकियो से हिन्दी-साहित्य समृद्ध ही नही, गौरवान्वित भी हुआ है।

भट्ट जी के उपन्यास : उन की दृष्टि में

डा० रणवीर राग्रा

जीवन और जगत् के प्रति नारी जितनी जागरूक आज है, उतनी शायद पहले कभी नही थी। आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे पुरुष के साथ कधे से कधे भिडा कर—मिला कर नही—चलने की माँग करती है। सभ्यता ने उस की स्वतन्त्रता को स्वीकारा है। कानून ने उसे बराबरी का हक दिया है। आधुनिक शिक्षा दीक्षा ने उस मे स्वाभिमान का भाव भरा है। इस सब से नारी की प्रगति का मार्ग खुल गया है और उस की कुछ समस्याएँ सुलझी भी ह। पर उन के स्थान पर जो नई उलझनें पैदा हुई हैं, वे और भी भयकर हैं। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने नारी की शारीरिक बेडियो को तो काट दिया है, पर उस के भीतर गहरे जमे सदियो की दासता के सस्कार अब भी उस की आत्मा को जकडे हुए हैं और वह लाख छटपटाने पर भी उन से मुक्त नही हो पाई है। सस्कारो मे वह अब भी प्राचीन है, पर आधुनिकता को उस ने फैशन के रूप मे ओढ रखा है। कुल मिला कर उस की स्थिति सुधरने की बजाय बिगडी ही है। उस का शोषण अब भी रुका नही, शोषण का रूप भर बदला है और वह उस रूप की चकाचौध मे आपा खो बैठी है।

नारी जीवन की इस विडम्बना का चित्रण प० उदयशकर भट्ट के उपन्यासो मे हुआ है। कवि और नाटककार के रूप में तो भट्ट जी का स्थान अक्षुण्ण है ही, इधर कुछ वर्षों से उपन्यास को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना कर उन्होने जो कृतियाँ दी है, उन का भी अपना स्थान है। 'एक नीड, दो पछी', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'डा० शैफाली', शेष-अशेष', और 'दो अध्याय' उन के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इन मे उन्होने कुशल जर्राह की तरह नारी जीवन के इस द्वैत पर बडी निममता से नश्तर चलाया है और उस का पूरा मवाद निकाल बाहर करने की चेष्टा की है। रोग के निदान मे वह अधुनातन तकनीको से लैस हो कर चले हैं, पर चिकित्सक के रूप मे वह आधुनिक प्रयोगो की अपेक्षा सदियो की आजमाई हुई पुरातन पद्धति ही अपनाते हैं, वह काम-वृत्ति को दबाने के पक्ष मे तो नही, पर उसे खुल कर खेलने देने के बजाय वह उस का सयमन ही हितकर मानते हैं।

पिछले दिनो जब भट्ट जी से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ तब चर्चा का

आरम्भ करते हुए मैने 'जिज्ञासा प्रकट की—"आप ने सफल काव्य रचे है और एक से एक बढिया नाटक भी लिखे है। फिर भी, आप बार बार उपन्यास की ओर आकृष्ट हुए है। कृपया बताएँ, आप कब और उपन्यास कला की किस विशिष्टता के कारण उसे आपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं ?"

अतर्मुख होते हुए भट्ट जी बोले—"उपन्यास भी साहित्य की एक विधा है और वह विधा व्यथ नही है। जो बात लेखक कविता या नाटक मे नही कह पाता उसे उपन्यास मे कह जाता है। उपन्यास मे जीवन के वाछित सर्वांग का वरान होता है। वह उस वट-वृक्ष के समान है जिस की शाखाएँ अलग अलग होती हुई भी वृक्ष से सम्बद्ध रहती है। या यो कहिए कि उपन्यास जीवन की अभिव्यक्ति का चरम माध्यम है। कविता मे अमूत्त जीवन-तत्व प्रधान होते हैं, अनुभूति और कल्पना से आच्छन्न होने पर मैं ने कविता का सहारा लिया है। मूत्त तत्त्वो की सगठित रूप मे झाकी मात्र देने के लिए मैं ने नाटक को अपनाया। जो बात मैं कविता या नाटक मे नही कह पाया, उस के लिए उपन्यास का आश्रय लिया और देखा कि उपन्यास के कथ्य को शायद दूसरी तरह से न कह पाता। उपन्यास मै ने उत्तरावस्था से लिखना आरम्भ किया। उस से पहले मे कविता लिखता रहा और उस के बाद नाटक। जब कविता या नाटक की विधा मे मैं अपने को बधा पाता रहा और अभिव्यक्ति का उफान समुद्र के ज्वार की तरह बार-बार मुझे पीडित करता रहा, तब मेने उपन्यास का आश्रय लिया।

जीवन और जगत के प्रति सही या गलत एक बार जो दृष्टिकोण बन जाता है, साहित्यकार अपनी रचनाओ मे प्राय उसी की पुष्टि करने की चेष्टा करने लगता हे। यह स्थिति उस की रचनाओ मे गतिरोध ला देती है। इस विषय मे भट्ट जी की लेखन-प्रक्रिया और तत्सम्बन्धी मान्यताओ को जानने की दृष्टि से मै ने पूछा—"उपन्यास लिखने की प्रेरणा आप को जीवन और जगत से सीधे मिलती है या उन के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से ?" अपने को भीतर ही भीतर टटोलते से भट्ट जी धीरे-धीरे बोले—"मैं जीवन मे प्रत्यक्ष अनुभव का विश्वासी हूँ। बधी-बधाई लकीरो या फ्रेम मे जकडे जाने का मै स्वभावत विरोधी हूँ। इसीलिए कविता मे मुक्त छन्द का मै ने डटकर प्रयोग किया है। नाटक की रूढियो को मैं ने नही माना। जहाँ तक मुझे याद आता है, मैने उपन्यास सिद्धान्त की कोई किताब नही पढी। फिर भी जो लिखा, उस को लोगो ने उपन्यास माना। उपन्यास मे मै अन्तिम दिशा नही निर्धारित कर पाता, जहाँ उपन्यास को पहुँचाना है। मैं रस्सी के सहारे चलने वाले नट की तरह केवल सामने का प्रकाश पा कर धीरे-धीरे चलता रहता हूँ। उस समय मेरे पात्र आगे बढते जाते हैं और अपने आप अन्त तक पहुँच जाते हैं। यही मेरा उपन्यास लिखने का क्रम है। मुझे याद नही, अपने किसी उपन्यास का कोई अन्त मैंने पहले से निश्चित किया

हो। कभी कभी ऐसा भी हुग्रा है कि मेरे लिखने के क्रम मे कोई व्याघात पहुँचा तो मैने दूसरे दिन दुहराते समय उसे काट दिया हो, यह जरूर है कि मैं अपने पात्रो की चरित्र-शक्ति को मन्तुलित करता चलता हूँ। मेरे पात्र मुझे जीवन से ही मिले हैं। उन के पौरुष को, उन की निबलता को, उन की प्रकृति विकृति को मैं ने आँख खोल कर देखा है। वही मैं ने अपने साहित्य मे दिया है।"

रचना प्रक्रिया की भट्टी मे पडते ही लेखक के जीवन दशन पर, उम की मान्यताओ और विश्वासो पर चढा कृत्रिमता का मुलम्मा उतरने लगता है, धीरे धीरे उस का वास्तविक रूप निखरने लगता है और वह अपनी आत्मा को पहचानने लगता है। रचना करते समय उसी के सामने आप बीती और जग बीती का, अतीत की सफलताओ और विफलताओ का नया ही अर्थ खुलता है और वह पहले लगाए गए उप अथ से कोसो दूर होता है जो उस के जीवन-दशन का आधार बना था। यह जानने के लिए कि क्या भट्ट जी ने भी कभी ऐसा महसूस किया, मैं ने पूछा—"अपनी साहित्यिक कृतियो के माध्यम से आप जीवन और जगत के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण की प्राय पुष्टि करन है, या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं ?' मेरे प्रश्न की गहराई मे उतरते हुए भटट जी ने कहा—"जीवन मे साधारण असाधारण दोनो बातें चलती हैं। लेखक सदा प्रयत्न यह करता है कि वह असाधारण, कि तु उसी के हृदय को अधिक स्पश करने वाली घटना को मनोवैज्ञानिक ढग से चित्रित कर सके। बाहर से देखी हुई साधारण चीज भी लेखक के अन्तर मे पैठ कर कभी-कभी इतनी तलस्पर्शी और गहरी हो जाती है कि जब तक वह उस को अभिव्यक्ति नही दे पाता, उस की बेचैनी बढती जाती है। बेचैनी की यह क्रिया लेखक को एक तरह से पागल बनाए रखती है। उस का एक कारण यह भी है कि लेखक का हृदय अत्यन्त सवेदनशील होता है। इसलिए, अपनी लेखन-प्रक्रिया मे जो तन्मयता रहती है उस मे वह जगत से अछूता रहता है। यही सवेदनशीलता लेखक मे नए ढग से दुनिया देखने का, समझने का आग्रह, उत्पन्न करती है—जैसे मधुमक्खी फूल का रस ले कर, अपने छत्ते मे एकता न हो कर मधु निर्माण करती है, हालाँकि वह जिस चीज का निर्माण करती है वह रस नही, शहद है। साहित्यकार भी इसी तरह बाह्य जीवन से रस ले कर साहित्य के अक्षय मधु का निर्माण करता है। जीवन के रस मे अनुभूति और कल्पना के सम्मिश्रण से लेखक साहित्य मधु देता है।"

अब मैं ने सीधे उन के उपन्यासो पर ही चर्चा छेड दी। उन मे बार-बार उठाई गई सेक्स की समस्या को लेते हुए मैं ने कहा कि समाज जब किसी स्त्री या पुरुष को विवाह की अनुमति देने से इन्कार कर उस के सैक्स-प्रवाह के सभी मार्ग अवरुद्ध कर देता है, तब उस के पास सेक्स के उन्नयन के सिवा

और कोई स्वस्थ रास्ता नही रहता। असफल प्रेमी घोर निराशा के क्षण मे आत्महत्या कर सकता है, या फिर किसी दूसरे की हत्या मे प्रवृत्त हो सकता है, जिसे वह अपने मार्ग का काँटा समझता हो। आप उसे इन दोनो से बचा कर जो परसेवा के क्षेत्र मे प्रवृत्त कर देते है, यह स्वाभाविक ही है, क्योकि प्रेम और परसेवा दोनो मे व्यक्ति का अह चूर-चूर हो जाता है और उसे परम सतोष की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से मुझे डॉ० शेफाली की अपेक्षा 'दो अध्याय' की शारदा के चरित्र विकास की परिणति अधिक सयत और स्वाभाविक दीखती है। इस विषय मे आपकी क्या राय है?"

प्रश्न के उत्तरार्द्ध पर भट्ट जी खिलखिला कर हँस पडे और बोले—"सो तो होगा ही, क्योकि 'दो अध्याय' 'डॉ० शेफाली' के बाद लिखा जाने के कारण शारदा के चरित्र-विकास की परिणति इस समस्या पर मेरे परिपक्व दृष्टिकोण को व्यक्त करती है।" फिर प्रश्न को और गहराई मे लेते हुए बोले—"मैं सेक्स को स्वय प्रवाहित होते हुए देखना चाहता हूँ। किसी मर्यादा या आदश मे बाँधना मुझे अभिप्रेत नही है। 'लोक-परलोक' की चमेली, 'डॉ० शेफाली' की हीरा देई, 'सागर, लहरे और मनुष्य' की रत्ना इस प्रकार के उदाहरण है। जिन पात्रो मे अविवेक का बन्धन नही है, या अध्ययन या सेवा से जिन्होने अपने काम को भस्म कर दिया है या दूसरी ओर उन्मुख कर दिया है, उन्ही पात्रो को मैं शारदा या शेफाली के रूप मे चित्रित करता हू। ('डॉ० शेफाली' की 'हीरा देई,'सागर, लहरें और मनुष्य' की इट्ठा, वशी आदि पात्रो मे काम को सयत करने की शक्ति के अभाव मे उन्हे अपने रूप मे प्रवाहित होने या जाने दिया है।) इस स्थिति तक पहुँचने के लिए जो प्राणग्राही सघष पात्रो के जीवन मे होता है, उस तक पहुँचते-पहुँचते जो पात्र मुझे जीवित दिखाई देते हैं, उन्ही को मैं ने वैसे दिखलाया है। वैसा करना आग्रह ग्रहिलता नही है, स्वाभाविक है। हो सकता है, इस अवस्था मे भी कुछ लोगो को अस्वाभाविक लगे। मैं ने ऐसे पात्र देखे हैं। उन के सम्पक मे भी आया हूँ। इसीलिए, यह निष्कष मैं ने अपने पात्रो के लिए भी निकाला है।

"शारदा और शेफाली, दोनो ही अपने अतर्द्वन्द्व से पीडित है और दोनो ही अपने मन के प्रिय व्यक्ति को चाहती है। किन्तु शेफाली मे अपने सेक्स को जीतने की क्षमता कम है जब कि शारदा ने अपने गुरु के प्रभाव से अपने को पूणतया साहित्य-साधना में ढाल लिया है। मैंने शारदा को जिस अवस्था मे छोडा है उस अवस्था मे प्रत्येक पाठक को खुली छुट्टी दे दी है कि वह अपने तक और विवेक के अनुसार निणय कर सके। मैं समझता हू, पाठक को केवल जितना लिखा है उतना ही समझने की आवश्यकता नही। उस मे आत्मबल का निर्णय भी चाहिए। यही प्रक्रिया 'सागर, लहरे और मनुष्य' की रत्ना की भी है। कुछ लोग मानते हैं रत्ना से डा० पाडुरग की शादी हो गई, लेकिन मैं ने उस पात्र को भी पाठको के निणय पर छोड दिया है। मनुष्य का जीवन

रहस्यमय है। वह रहस्य यदि बना रहे तो उस पात्र मे एक अद्‌भुत निखार आ जाता है। मैं ने इन पात्रो को इसी दृष्टि से देखा है।

चर्चा को भटट जी के बहुर्चित उपन्यास 'सागर, लहरे और मनुष्य' पर लाते हुए मै ने पूछा—'सागर, लहरें और मनुष्य' को लोग आचलिक उपन्यास कहते है, पर मुझ लगता है कि उस मे बहुत-कुछ ऐसा है जो उसे आचलिकता के घेरे से निकाल कर सावभौम बना देता है। मै समझता हूँ, उस उपन्यास मे कोली जाति की रचना तो निमित्त भर है—आज की परम महत्त्वाकाक्षिणी एव स्वतन्त्र नारी की भटकन के चित्रण का। कृपया बताएँ, उस उपन्यास की रचना मे आप का मूल लक्ष्य क्या रहा है।"

प्रश्न का स्वागत करते हुए-से भट्ट जी बोले—"आप जो कहते है सो तो ठीक है ही। मैं भी अपनी इस रचना को कोरा आँचलिक उपन्यास नही मानता। जहाँ तक इस उपन्यास की रचना मे निहित मूल लक्ष्य की बात है वह तो आप जैसे लोगो के खोजने का विषय है। पर मै यह अवश्य बता सकता हूँ कि इस की रचना के लिए मुझे कब और कैसे प्रेरणा मिली। मछुओ के जीवन से मेरा सीधा सम्बन्ध कभी नही रहा, जाति और कर्म से भी नही। बात मार्च, १९५३ की है। मुझे अपने एक निकटतम सम्बन्धी को, जो विदेश-यात्रा पर जा रहे थे, विदा करने बम्बई जाना पडा। यो मैं इस से पूव भी कई बार बम्बई गया हू और समुद्र दशन, समुद्र-स्नान की लालसा मेरे भीतर सदा ही रही है। समुद्र के किनारे-किनारे घूमना, एकान्त मे बैठ कर गर्जन सुनना, लहरे देखना यह मेरा 'शेबा' था और उन दिनो भी वही हुआ। बम्बई जाकर अपने को मै रोक नही पाता। आज भी समुद्र के किनारे किनारे घूमना पसद करता हूँ। उस समय मुझे लगता है—समुद्र भी इस पृथ्वी की तरह एक अनन्त ससार है। तो उस दिन मैं अपने एक साथी के साथ घूमते-घूमते बरसोवा नामक ग्राम की ओर जा निकला। वहाँ मुझे एक नई दुनिया दिखाई दी। लहराता समुद्र और वहाँ का जन-जीवन देख कर एक उत्सुकता, एक अभिव्यक्ति की बेचैनी मेरे भीतर फूटने को आतुर हो उठी। मचान पर फैली मछलियाँ, किनारे पर नावो मे बैठे मल्लाहो की मस्ती, उन के गीत, उन के जीवन-दशन ने मुझे आकष्ट किया। मैं बहुत देर तक खडा-खडा उस दश्य को देखता रहा। उस समय मुझे लगा जैसे मै भी इसी समुद्र और इन प्राणियो मे से एक हूँ। उनके गीतो की जो तान उठ रही थी, उस में जैसे मुझे समुद्र ताल देता लगा। एक तन्मयता की प्रतीति हुई। मुझे लगा जसे लहरें उन के हर गान, तान, ओजस्वी लय को आत्मसात् करती बढ रही हो और मेरा सर्वांग उन गीतो पर ताल दे कर गुनगुनाने लगा। मैं उस समय अपने को भूल गया। मैं ने अनुभव किया, सागर की भी एक कहानी है, तो इन सागर पुत्रों की भी।

"वैसे मैं रामेश्वरम्, धनुषकोटि, कन्याकुमारी, जगन्नाथपुरी, द्वारिका

आदि के समुद्र के भी दर्शन कर चुका था। उस समय मेरे मन मे यह विचार कई बार उठा कि हिन्दी-साहित्य मे समुद्र का नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध मे मुझे जब-तब अपने साहित्यिक मित्रो से भी चर्चा करने का अवसर मिला। उस समय मछुओ के जीवन ने मुझे उत्साहित किया। मै ने निश्चय किया कि यदि मै इस जीवन को साहित्य मे चित्रित कर सकू, तो कदाचित् हिन्दी-साहित्य के अश मात्र के अभाव की पूर्ति कर सकूगा। मुझ मे एक उत्साह जगा और मै फिर अपने काम मे जुट गया।"

उसी उपन्यास पर मै ने एक और प्रश्न किया। 'सागर, लहरे' और मनुष्य' को सुखा त बनाने के लिए आप ने कथानक को जो मोड दिया है वह सस्ता सिनेमाई मोड लगता है। वैसे भी आज के युग मे रत्ना जैसी स्वतन्त्र विचारो वाली नारी के जीवन का दु खान्त होना ही अधिक स्वाभिविक लगता। उस के उद्धारक डॉ० पाडुरग जैसे व्यक्ति कल्पना लोक मे ही मिलते है, वस्तु-जगत मे नही। इस विषय मे आप की क्या राय है ?"

प्रश्न की चोट को शा त भाव से सहते हुए भट्ट जी सयत स्वर मे बोले— 'सागर, लहरे और मनुष्य' मे रत्ना का अन्त सुखान्त नही है। लेकिन सुख के आस पास जरूर है। वैसा चित्रित करना मुझे इसलिए भी आवश्यक लगा कि अपने जीवन के आरम्भ से ही रत्ना भटकती रही है। उसे अपनी परिस्थितियो से घोर सघर्ष करना पडा है। उस के जीवन के यौवन मे प्राय अमा की रात्रि आती रही है। जहाँ-जहाँ वह गई, जिस-जिस व्यक्ति का आश्रय लिया उसी ने रत्ना को धोखा दिया। वह दुत्कारी गई और तिरस्कत भी हुई। इस सारे काल मे आशा का एक भी आलोक उस को दिखाई नही दिया। स्वाभाविक है कि मनुष्य के जीवन मे ऐसी घटनाएँ आती है, तो प्रकाश भी मिलता है। मैं ने देखा कि रत्ना को भी जीवन के सुख का प्रकाश मिलना अपेक्षित है। मैं ने डा० पाडुरग की कल्पना की। पाडुरग-जैसे व्यक्ति बहुत नही होते। पर ऐसे व्यक्तियो का अभाव नही है। मै मानता हू, रत्ना साधारण दिखाई देने वाली लडकी नही है। उस की इच्छाएँ पर्वत से ऊँची और सागर से गहरी है, जिन के पीछे वह बौराई हुई फिरती है। उस को अन्त मे पॉडुर ग जैसा एक व्यक्ति मिलना ही चाहिए। यह मणिकाँचन-सयोग है। मुझे पाडुरग को ढूढने के लिए काफी चिन्तन, काफी मनन और काफी समय तक प्रतीक्षा करनी पडी। मेरे एक आलोचक मित्र का कहना है कि रत्ना जसा पात्र हिन्दी-साहित्य मे ही नही, विश्व-साहित्य मे भी अद्भुत है। सम्भव है, यह उन का रत्ना के प्रति प्रेमातिरेक हो। किन्तु यह सच है, रत्ना जैसी पौरुषमय पात्र हिन्दी मे तो दिखाई नही देता। उस का कारण यह है कि हिन्दी ने कोली जैसी निर्भीक और वीर जाति को नही अपनाया है। आप देखेंगे, वही एक नारी है जो टूटने पर भी झुकी नही है।"

भट्ट जी ने बडी खोज-खबर और यात्रा के बाद साधु-जीवन पर भी एक

उपन्यास लिखा है, जिसका नाम 'शेष अशेष' है। साधु-जीवन को अभी तक किसी ने छुआ ही नही था, पर भट्ट जी ने उसे पूरी गम्भीरता से लिया है। और इस जीवन के अच्छे बुरे दोनो ही पक्षो का बडा निमम विवेचन निरूपण किया है। पर उसे पढने हुए मुझे ऐसा लगा कि ज्ञानवधक होते हुए भी उपन्यास के रूप मे वह विशेष जमता नही। इसलिए, मै ने प्रश्न किया, "आप का उपन्यास' शेष अशेष' आज के साधु-जीवन की पोल खोलने मे जितना सफल रहा है, उतना औपन्यासिकता की दृष्टि से नही। लगता है, अनेक साधुओ के इतिवृत्तो ने उस के कथानक को बिखेर दिया है। कृपया बताएँ, बाद मे इस कृति को पढने पर क्या आप को भी कभी ऐसा लगा।"

प्रश्न बेहद तीखा था। प्रतिक्रिया भी वैसे ही हुई। मेरी स्थापना का निराकरण करते हुए भट्ट जी बोले—"मैने इस उपन्यास को आलोचक की दृष्टि से तो नही पढा, जब कि मुझे पढना चाहिए था। मैं आप से ही एक प्रश्न करता हूँ, 'क्या उपन्यास एक नपे तुले ढाँचे का नाम है?' फिर तो आचलिक, मनोवज्ञानिक-जैसे उपन्यास इस ढाँचे मे नही आ सकेंगे। मैं मानता हूँ, आप ने जो कहा बिखराव है, पर बिखराव होते हुए, भी आप मानेंगे, उस मे एकसूत्रता है जो उपन्यास की जान कही जा सकती है। कमल जो इस का मुख्य पात्र है, वह जहाँ-जहा जाता है, गहराई से जीवन-दशन का अध्ययन करता है और वही कहता है। हा, उस मे इसी कारण शाखाएँ प्रशाखाएँ अपेक्षाकृत अधिक फूटी है। यह आज के उपन्यास के लिए सह्य चाहे न हो, किन्तु इस कृति द्वारा साधु-जीवन की प्रकृति और विकृति का जो दर्शन उपस्थित है, वह मुझे अभीष्ट भी था। मे पूछता हूँ, जो मै कहना चाहता था, वह मैं कहने मे सफल हुआ हूँ या नही? उपन्यासत्व इस मे सिद्ध हो या असिद्ध, मैं अपनी बात खुल कर और उपन्यास के ढग से कह पाया हूँ या नही?" कहते-कहते भट्ट जी सहसा रुक गए और उत्तर की प्रतीक्षा मे मेरी ओर देखने लगे।

मैं ने विनयपूवक कहा, 'आप के 'शेष-अशेष' मे साधु-समाज की प्रकृति विकृति का यथाथ और प्रभावोत्पादक चित्रण हुआ है, इस विषय मे दो मत हो ही नही सकते। मेरी जिज्ञासा, या कहे शिकायत, तो इसलिए है कि आप ने यह सारा निरूपण उपन्यास के माध्यम से किया है और उपन्यास का पाठक होने के नाते कमल के साथ-साथ मुझे भी बहुत भटकना पडा है और वह भटकन ही मेरी झुँझलाहट के रूप मे यहाँ व्यक्त हुई है। उपन्यास के सभी पाठको को इतनी भटकन शायद सह्य न हो।

मेरी बात सुन कर भट्ट जी हँसते हुए बोले, "भटकन और पाठको को सह्य हो या न हो, पर इतना निश्चित है कि आप को वह सह्य नही। उपन्यास, नाटक या कविता को आप चौखटे में नही बाँध सकते। फैलाव आज के जीवन का गुण है या दोष, जो कुछ भी हो, पर वह है अवश्य। मनोविज्ञान के अध्ययन से विकृति की ग्रन्थियाँ फूट कर जो उसे या समाज को गहराई से

देखने के लिए बाधित कर देती है, उस दृष्टि से भी फैलाव या बिखराव आज के जीवन की एक प्रत्यक्ष वस्तु है। और साहित्य के लिए तो और भी। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर पतले पाँवो से आरम्भ हो कर धीरे-धीरे पिंडलियो, जाँघो के रूप मे बढता-बढता पेट और छाती तक जा कर फैल जाता है, फिर गर्दन पर सिमट कर पतला हो जाता है और फिर बढता है, उसी प्रकार सकुचन-विकुंचन द्वारा लेखक अपने कथ्य को पूरा करता है।

अपने उपन्यासो के हर नए सस्करणो मे पण्डित उदयशकर भटट उस मे कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देते है। कुछ जोड देते हैं और कुछ निकाल देते है। कई बार तो उपन्यास का पहला नाम तक बदल कर दूसरा नाम रख देते है। उदाहरणार्थ, 'एक नीड, दो पछी' उनके पूर्व प्रकाशित उपन्यास 'वह जो मै ने देखा' का नया सस्करण है। 'डॉ० शेफाली' उन के पहले छपे सामाजिक उपन्यास 'नए मोड़' का परिवर्द्धित सस्करण है और 'दो अध्याय' उन के उपन्यास उत्तराधिकार' का। उन के इस प्रकार के सशोधित सस्करणो के औचित्य की बात उठाते हुए मैं ने पूछा—"अपनी रचना को एक बार पाठको के सामने रख चुकने के बाद उस के प्रकाशन के पश्चात, सजक लेखक जब उसे सशोधित करने की दृष्टि से पढता है तब उस समय वह सजक कम और आलोचक अधिक होता है। ऐसी-स्थिति मे क्या यह सम्भावना नही रहती कि उस के साथ छेड-छाड करके वह उसे सुधारनेके बजाए बिगाड बैठे ? अपने उपन्यासो के सशोधित और परिवर्धित सस्करणो के प्रसग मे इस विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करे।"

प्रश्न को गम्भीरता से लेते हुए भट्ट जी बोले—'मै तो बहुत अल्पज्ञ लेखक हूँ। अपनी एक बार लिखी कृति को दोहराने का अधिकार यदि मुझे है, तो प्रकाशित सस्करण मे परिवर्तन और परिवद्धन का अधिकार मुझ से क्यो छीना जाता है ? पात्रो या चरित्र की पूर्णता की दृष्टि से यह सब करना मुझे अच्छा लगता है। समय के साथ अनुभव की वृद्धि होने पर पिछली कृति को पूर्णता क्यो न प्राप्त हो ? मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि मेरे साहित्य के पात्र यदि लूने-लगडे, अधे-काने रहे तो क्या वे मुझे कोसेंगे नही ? मेरे मरने के बाद भी वे मुझे चैन नही लेने देंगे। आप ने नाम-परिवतन और उपन्यास-परिवतन की बात ही कही है। ये दोनो बातें विषय वस्तु को 'टु द प्वाइट' बनाने के लिए की गई है, ताकि पाठक को आप के कहे अनुसार 'शेष अशेष के पात्रो की तरह भटकना न पडे। उपन्यास की बात मैं नही कहता। किन्तु यूरोप मे भी ऐसे लेखक है, जिन्हो ने अपनी कृति का नए सस्करणो मे आवश्यकतावश परिवर्तन परिवर्द्धन किया है। जब मनुष्य के रूप मे भी परिवतन और परिवर्द्धन होते हैं, तब फिर साहित्य को उस से वचित क्यो किया जाए ?"

मुझे लगा भट्ट जी के उत्तर से मेरे प्रश्न का मूल आशय अछूता रह गया

है। लेखक अपनी कृति का पिता है तो पाठक उस का पति होता है। कन्या पति को पा जाए तो पिता का उस पर हक नही रहता। इसलिए मैं ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा, "मे समझता हूँ, कृति के प्रकाशन से पहले भले ही "लेखक उस का एक मात्र स्वामी होता है, पर छपते ही उस की कृति पाठको की हो जाती है। लेखक तो बस 'रायल्टी' का अधिकारी रहता है, यदि और जब तक वह मिले। ऐसी स्थिति मे लेखक द्वारा अपनी रचना के परवर्ती सस्करणो का परिवतन परिवद्ध न क्या पाठको के साथ ज्यादती नही है ?" उत्तर मे भट्ट जी बोले—"उपन्यास और नाटक को पाठक प्राय एक बार पढता है। ऐसी बहुत कम कृतियाँ हैं जो बार-बार पढी जा सकती हैं। उपन्यास तो प्राय एक बार पढा जाने के लिए होता है। इसलिए, उपन्यास का परिवर्तित-परिवर्द्धित सस्करण निकलता है तो वह पाठक ढूढ कर लाना है।'

समय बहुत हो गया था। इसलिए चर्चा को समेटते हुए मैं ने अन्तिम प्रश्न किया—"आजकल आप क्या लिख रहे है ? निकट भविष्य मे आप की कौन सी नई कृति प्रकाश मे आ रही है ?" आह-सी भर कर भट्ट जी बोले—"अब शरीर इतना अशक्त और आँखे इतनी कमज़ोर हैं कि चाहने पर भी जम कर नही लिख पाता। लिखने की ऐयाशी की तरह कुछ तुकबदियाँ अवश्य कर लेता हूँ, क्योकि चाहने पर भी यह पुरानी आदत छूटती नही। 'मुझ मे जो शेष है' नाम से ऐसी ही कविताओ का एक सग्रह अभी-अभी प्रेस मे दिया है। इस मे पिछले एक डेढ वष की कविताएँ सग्रहीत हैं।"

सागर, लहरे और मनुष्य

श्री शिवदानसिंह चौहान

हिन्दी के देखे भट्ट जी का उपन्यास 'सागर, लहरे और मनुष्य' एक महान् रचना हे । कहने को तो कहा जा सकता हे कि यह बम्बई के मछुओ की कहानी है, लेकिन वास्तव मे यह उस लडकी रत्ना की कहानी है जो एक मछुआ दम्पति बिट्ठल और बशी की बेटी है और जो पढ-लिख कर परम्परागत मछुआ जीवन की विषमताओ और कुरूपताओ से विरक्त हो कर सभ्य जीवन बिताने के लिए सघष करती है । तथाकथित सभ्य समाज मे पहुच कर भी उसे सभ्य वातावरण नही मिलता । एक डॉक्टर पाडुरग को छोड कर उसे वहाँ भी सभ्य वेश मे नर-पशु ही मिलते है । इस कहानी को भट्ट जी ने इतने मार्मिक और सशक्त ढग से कहा है कि इस उपन्यास को यदि आप दुबारा पढे तो शायद पहले से ज्यादा ही आनन्द आएगा, क्योकि तब आप पात्रो के मराठी-मिश्रित वार्तालाप के अभ्यस्त हो चुके होगे और आप को उन की भाषा मे एक नया रस और सौन्दर्य मिलेगा।

प्रस्तुत उपन्यास की कहानी को सक्षेप मे सिलसिलेवार सुनाने के लिए यहाँ स्थान नही है । लेकिन भटट जी ने जितने भी पात्रो को इस मे पेश किया है वे सभी सजीव हे । रत्ना का पियक्कड, निकम्मा बाप बिट्ठल, रत्ना की सिहनी-जैसी निडर और कमठ माँ वशी, रत्ना का आदर्शवादी मछुआ प्रेमी यशवन्त, रत्ना का पहला पति माणिक, जिस के प्रेम-जाल मे फँसकर रत्ना मछुओ की बस्ती, यशवन्त और पुराने जीवन को छोड कर नए जीवन की तलाश मे बम्बई जाती है, रत्ना की मददगार सहेली सारिका, जो मध्यवर्गीय तुच्छताओ के कारण प्रेम के लिए नही बल्कि पैसे के लिए एक अपरिचित से शादी करने मे अनाकानी नही करती, माणिक की पहली पत्नी दुर्गा, धूर्त वकील धीरूवाला, जो रत्ना को दुबारा शादी का प्रलोभन दे कर और शराब पिला कर उस के साथ मे अनजाने मे बलात्कार करता है और अन्त मे सच्ची मनुष्यता का प्रतीक डॉ० पाडुरग, जो धीरूवाला से गर्भवती रत्ना को लोक-निन्दा की परवाह न करके सच्चे हृदय से प्यार करता है और रत्ना को अपना कर उसे लोक निन्दा से बचाता है—यह सभी और अनेक दूसरे छोटे मोटे पात्रो का चरित्र भट्ट जी ने इतनी कलात्मकता से आँका है

कि वे सभी सजीव हो उठे है। केवल यशवन्त और डॉ० पाडुरग के बारे मे कहा जा सकता है कि उन के चरित्र अतिशय उदात्त और आदशवादी होने के कारण किंचित अस्वाभाविक है।

फिर भी इतने पात्रो का मूत्त और सजीव चरित्र निर्माण, 'मैला आचल' को छोड कर हिन्दी उपन्यास साहित्य मे एक अपूर्व घटना है। लेकिन 'मैला-आँचल' मे कोई पात्र अपनी पूरी मानवीय सम्भावनाओ के अनुकूल विकास नही पाता, अक्सर पात्र अपने ग्रामीण जीवन की क्षुद्रताओ मे ही आबद्ध होने से बौने हैं। किंतु रत्ना एक ऐसी नारी है जो अपने चरित्र की आन्तरिक शक्ति, विषम परिस्थितियो से जूझने के असीम साहस, अपनी दुर्दमनीय महत्त्वाकाक्षा, विद्रोही स्वभाव और दृढ सकल्प के कारण परम्परागत जीवन की सकीण सीमाओ को तोड डालती है। इसी कारण रत्ना का चरित्र इतना विशिष्ट है कि वह सहज ही क्रान्तिरत आधुनिक भारतीय नारी की प्रतिनिधि बन गई है।

हिन्दी उपन्यासो मे अब तक जितने नारी पात्रो की सृष्टि हुई है, रत्ना उन सब से भिन्न है और ऊँची भी। शरत् की नारिया विद्रोह करती है, लेकिन वे अक्सर मध्यवग की नारियाँ है, और उनका विद्रोह परिवार या निकट समाज मे नया सतुलन और नया सामजस्य लाने के प्रयत्न तक ही सीमित है।

प्रेमचन्द नारी-समस्या के बारे मे अपने पुराण-पथी दृष्टिकोण के कारण अक्सर पति और परिवार के बाहर नारी जीवन का कोई सामाजिक प्रयोजन ही नही देखते। उन की दृष्टि मे पति और परिवार को ठुकरा कर नारी केवल पतिता ही हो सकती है, या फिर समाज उसे पतिता बना देगा, क्योकि नारी अबला है, उस मे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही है।

जैनेन्द्र की ,नारी मे व्यक्तित्व है, लेकिन वह यदि सामाजिक बन्धनों को तोडती है तो सुखदा की तरह अन्त में आत्मग्लानि से पीडित हो उठती है।

लेकिन रत्ना ऐसे अदम्य साहस वाली स्त्री है जो मुड कर पीछे लौटना नही जानती, जो अपनी नियति से निरन्तर सघर्ष करती जाती है। वह अपने पति माणिक के पाटनर लक्ष्मण और उसके साथी काशीनाथ सेठ के साले छगामल और वकील धीरूवाला सभी को, जो उसे अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाना चाहते है, डडो और जूतो से पीटती है। हमारे मित्र डॉ० देवराज उपाध्याय को यह पति को पीटने वाली बात पसन्द नही आई। सस्कार की बात है क्योकि हम मध्य वग के लोग स्त्री से यही उम्मीद रखते हैं कि वह पति के जुल्मो को चुपचाप सहती रहे। लेकिन रत्ना मछुओ की बेटी है। वह कोलिन है जो मद की साथिन बन कर रहना जानती है उस से दब कर नही। ऐसी जाति की लडकी को नई जागृति की प्रतिनिधि बना कर भट्ट जी ने भारतीय नारी को एक नया गौरव प्रदान किया है। और एक अनुकरणीय मिसाल भी पेश की है। मध्यवर्ग का नारी विद्रोह अक्सर यौन-

उच्छृंखलता का रूप ग्रहण कर अपनी व्यापक मानवीय साथकता खो देता है। किन्तु रत्ना के विद्रोह मे अधिक गहराई है, उस का लक्ष्य भी बडा है।

'सागर, लहरें और मनुष्य' की इस मार्मिक कथा को भट्ट जी ने आद्यन्त बडे कौशल से निभाया है। इस उपन्यास की रचना के लिए मैं ने जब भट्ट जी को पत्र मे लिखा कि आप ने हिन्दी साहित्य को एक स्थायी मूल्य की कृति दी है तो भट्ट जी ने अपनी सहज विनयशीलता से उत्तर दिया कि "मैं अपने प्रयास से साहित्य-मन्दिर की इमारत मे यदि एक ईंट भी रख सका तो अपना जीवन साथक समझूँगा।" मेरा विचार है कि उपन्यास एक ईंट से कहो बढ कर है।

भट्ट जी का आंचलिक उपन्यास—'लोक-परलोक'

श्री शिवजी सिंह

श्री उदयशकर भट्ट का उपन्यास 'लोक-परलोक,' 'सागर लहरें और मनुष्य' के अनुरूप ही एक आचलिक उपन्यास है जो लगभग दो सौ पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। 'सागर, लहरे और मनुष्य' मे उपन्यासकार ने एक अचल विशेष मे जीवन-यापन करने वाले मछुए समाज को अपनी रचना का आधार बना कर उन के जीवन की सर्वागीण विशेषताओ का यथार्थवादी दृष्टि से उद्घाटन करने का सफल प्रयास किया है। यद्यपि कृतिकार ने अचल विशेष से हट कर अपने उपन्यास मे वैभव की नगरी बम्बई का भी चित्रण किया है, जिस से वह आचलिक उपन्यास की प्रवृत्ति-सीमा का अतिक्रमण करता दिखाई देता है, तथापि आलोचको ने उस मे एक ही जातीय समाज के चित्रण की परिमिति के कारण उसे आचलिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया है। पर 'लोक-परलोक' इस प्रकार के विवाद से मुक्त रह कर अपने यथार्थ रूप मे आचलिक उपन्यास बन सका है।

यह हिन्दी का आचलिक उपन्याम है। इस मे उत्तर प्रदेश के एक तीर्थ-गाँव—'पद्मपुरी' के विभिन्न वर्णों की जातिगण विशेषताओ का यथार्थ चित्रण किया गया है। प्रत्येक जाति वर्ग के पात्रो के द्वारा उन की जातीय गतिविधियो का चित्रण ही लेखक का मूल उद्देश्य प्रतीत होता है। उस ने तीर्थ स्थानो में निरन्तर होने वाली भीषण बुराइयो और जघन्य पापो की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित कर बतलाया है कि धर्म के रगीन पर्दों की आड मे किस प्रकार अधर्म के सख्यातीत स्वागपूर्ण नाटक अभिनीत किए जाते हैं। प्रतिक्षण ढोगी पण्डे पुजारियो की कृत्रिम धार्मिकता एव पाखण्डमय भक्ति के बलि-यज्ञ मे अति भोले भाले निष्कपट ग्रामीण आहुति बनते है। वे अपनी दिखावटी पूजा अर्चना के जाल मे उन्हे फँसा कर उन के धन का अपहरण ही नही करते, वरन् उन की छल-छद्म-शून्य नारियो का सौभाग्य और नारीत्व

भी कलकित और दूषित करते हैं। ऐसे ही वातावरण के चित्रण से भरा है वह पद्मपुरी गाँव। साथ ही उपन्याम का उद्देश्य भारतीय ग्रमीण-समाज को उन मनोवृत्तियो एव विचारो का मकेत देना है जो साम्यवादी विचारधारा के प्रचार प्रसार के कारण परिवर्तित हुए है। साम्यवादी विचाराधारा के प्रसार के कारण सभी पुराने मानो एव मूल्यो मे आश्चयजनक परिवतन हुए है। देश मे वर्ग-सघष का आविर्भाव हुआ। परिणामस्वरूप भारतीय वर्णाश्रम-समाज मे भी उथल पुथल की क्रान्ति मची। जमीदारी उन्मूलन हुआ और समस्त देश मे समता का नारा बुलन्द किया गया। निम्न मध्यवग ने जमीदारो और भूमिपतियो के समकक्ष आने का प्रयत्न किया। नीची जातियाँ ऊँची जातियो से प्रति-स्पर्धा करने लगी। फलस्वरूप गाँव आज वगगत लडाई-झगडे, अत्याचार अना-चार, शोषण वैमनस्य के अखाडे बनते जा रहे है। सक्षेप मे, उक्त समूची गति-विधियो का दिग्दशन ही उपन्यास की रचना के मूल मे सन्निहित है। इस प्रकार ऐतिहासिक निधि के रूप मे भी इस उपन्यास का महत्व सदा अक्षुण्ण बना रहेगा।

इस के आचलिक होने का सब से बडा आधार यही है कि इस मे चरित्रो के स्वतन्त्र विकास की ओर लेखक का ध्यान उतना न हो कर सम्पूर्ण अचल को चरितार्थ करने की ओर दिखाई देता है यही कारण है कि उपन्यास मे कई लघु लघु उप-कथाएँ चलती रहती हैं। अभिप्राय यह नही कि इस मे अन्य आचलिक उपन्यासो की भाति मुख्य कथा का अभाव है। अन्त मे चमेली की सत्य एव सुखमय जीवन की खोज की उस की करुणापूर्ण कहानी का निर्माण कर उपन्यासकार ने उपन्यास के उद्देश्य को और भी महत् बना दिया है। चमेली के त्यागमय एव सेवा-परायण जीवन से पाठक के समक्ष एक महान् सत्य की अवतारणा लेखक ने की है—असत्य पर सत्य की विजय, लोक सग्रह और सेवा से प्रसूत मानवता से दानवता की पराजय। सक्षेप मे, मानवीय वृत्तियो को उदात्त बनाना ही उपन्यास का प्रतिपाद्य है और इमी कारण हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासो मे इस की गणना होनी चाहिए।

शिल्प विधान

उपन्यासकार अपने उद्देश्य की स्थापना बिना कथानक या कथा वस्तु के सविधान के नही कर सकता। यह दूसरी बात है कि लक्ष्य की सिद्धि भले ही कथानक के अति लघु विस्तार मे ही हो जाए। पर कथानक के सवथा अभाव

मे इस की सिद्धि पत्थर पर दूब उगाने के ही सदृश होगी। अत इस उप यास की कथा वस्तु की समीक्षा करना औचित्य की दृष्टि से समीचीन होगा। कथा-कल्प की दृष्टि से यह उपन्यास अधिक सफल है। उपन्यासो की सफलता एव लोकप्रियता की चर्चा करते हुए राल्फ फाक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नावेल एण्ड दि प्यूपल' मे एक जगह लिखा है कि उपन्यासकार को अपनी रचना मे एक ऐसे नायक की सृष्टि करनी चाहिए जो सत्य जीवन की खोज मे प्रवृत्त व्यक्तियो के वर्ग सघष की करुण-कहानी से पाठक के हृदय को अभिसिंचित कर दे। निश्चय ही बहुत अश तक लेखक ने चमेली की कथा के निर्माण द्वारा उस की पूर्ति की है। चमेली की कथा पाठक के हृदय को करुणा-प्लुत कर देती है। साथ ही चमेली के चरित्र-चित्रण ने कथानक के सौन्दर्य को अधिक बढा दिया हे। यो तो सम्पूर्ण रचना मे अनेक लघु लघु उप-कथाएँ गतिमान होती रहती हैं, पर लेखक ने जिस अचल को साकार और मुखर करना चाहा है, उस के लिए उन कथाओ का निर्माण एक ही कथा के अन्तगत करना दुष्कर ही नही, आवश्यक भी नही प्रतीत होता। प्रासगिक कथाओ को किसी एक ही आधिकारिक कथा मे सम्पृक्त कर देने से निश्चय ही कथा का सौदय द्विगुणित हो जाता पर लेखक का न उद्देश्य ही सिद्ध हो पाता और न वह विशिष्ट भू-भाग ही अपनी सहज विशेषताओ के साथ मुखर हो पाता। इसीलिए उपन्यास का आधा भाग अचल के लोगो के जीवन के वर्णनो से भरा पडा है और इसी वर्णनात्मक आधे भाग से मूल कथा या नायिका की पृष्ठभूमि तैयार की गई है, जो मूल विषय का वाहक है। चूकि सभी आचलिक उपन्यासो मे उपन्यासकार का ध्यान किसी आधिकारिक कथा और किसी चरित्र विशेष पर आधारित न हो कर सम्पूर्ण अचल और उस मे जीवन-यापन करने वाले सभी चरित्रो की ओर होता है। पर यह भट्ट जी की कथा-शिल्प सम्बन्धी विलक्षण प्रतिभा ही है कि उन्होने अपनी उपकथाओ को भी मूल कथा के साथ जोडकर तथा साथ ही एक नायक का निर्माण कर पाठक के ऊपर समन्वित प्रभाव डालने का स्तुत्य प्रयास किया है।

उपन्यास मे कथा-कल्प (प्लाट टेक्नीक) की सुन्दरता चरित्रो और कथानक की परस्पर सगति पर निर्भर करती है यही कारण है कि उपन्यासकार विभिन्न चरित्रो की अवतारणा एक तो मल कथा को बराबर अग्रसर करने के हेतु और दूसरे उन चरित्रो के द्वारा देश-काल तथा अपने अभीष्ट की अभिव्यक्ति के निमित्त करते है। 'लोक-परलोक' का कथानक पूर्णत इस कसौटी

पर खरा नही उतरता, पर इस के अभाव मे भी कथानक मे किसी प्रकार का दोष उपस्थित नही हुआ है। अचल मे निवास करने वाली जिन समस्त जातियो की गतिविधियो के दर्शनार्थ लेखक ने चरित्रो के छोटे छोटे स्केचो का (चित्रो का) निर्माण किया है, फलत अनेक आनुषगिक कथाएँ दिखाई पडती हैं। वर्णनात्मक रोचकता के साथ उन का निर्माण करने के कारण उन के स्वतन्त्र अस्तित्व मे सौन्दर्य और कला उभरी है। उन छोटी-छोटी अनेक कथाओ के जाल मे पाठक उलझ कर अपने भीतर ऊब न महसूस कर उपन्यास को पूर्ण आनन्द और धैर्य के साथ समाप्त करता है। कथानक का प्रारम्भ तीर्थ स्थानो के जिन प्रभावकारी एव रोचक वर्णनो द्वारा हुआ है उसी प्रकार उस का अवसान भी हुआ है। आधे कथानक के बाद सम्पूर्ण उपन्यास मे करुणा की मद-मद धारा बहती दिखाई देती है। सब मिला कर उपन्यास का कथानक अति सरल रोचक और सीधा सादा, पर स्वाभाविक तथा प्राणवान है। चरित्रो और कथा-वस्तु की परस्पर अन्विति ही इस की कथा-वस्तु की सुन्दरता का मूल कारण है।

शील-निरूपण

चरित्र-निर्माण पर ही कृतिकार का सारा कौशल निर्भर करता है। चरित्रो के अभाव मे न तो उपन्यास का मूल तत्व कथावस्तु का सविधान हो सकता है और न देश-काल की अभिव्यक्ति ही। इसीलिए उपन्यासकार चरित्रो को इतनी कलात्मकता के साथ पाठक के समक्ष उपस्थित करता है कि वे सामान्य मानव की ही तरह परिचित एव प्रकृत लगें। अन्य उपन्यासो मे चरित्रो का जैसा चित्रण उपन्यासकार करता है, आचलिक उपन्यासो मे उस से अधिक औपन्यासिक क्षमता एव कला की अपेक्षा होती है। कारण, अन्य प्रकार के उपन्यासो मे उपन्यासकार का ध्यान किसी अचल विशेष के जीवन पर उतना केन्द्रित नही होता जितना कि अपने पात्रो के क्रिया कलापो की ओर। आँचलिक उपन्यासो मे अचल या भू-भाग को सजीव बनाने के हेतु उपन्यासकार को सभी पात्रो की ओर बडी ही सावधानी बरतनी पडती है, उस का ध्यान किसी पात्र विशेष पर केन्द्रित न हो कर सभी पात्रो पर केन्द्रित होता है। भट्ट जी ने अपने प्रस्तुत उपन्यास मे चित्रित अचल मे जीने वाले सभी पात्रो की विशेषताओ को इतनी कलात्मकता के साथ चित्रित किया है कि मानो वह अचल बोल उठा हो।

चरित्रो का निर्माण मुख्यतया दो पद्धतियो से हुआ है—(१) उपन्यासकार के स्वत वर्णन के द्वारा और (२) पात्रो के कथोपकथन के द्वारा। विशेषतया उपन्यासकार के वर्णन द्वारा ही पात्रो का परिचय हमे मिलता है। जहाँ कही भी उपन्यास मे उपन्यासकार ने नए पात्रो की सृष्टि की है, प्रेमचन्द जी की ही भाँति उन की भौतिक बनावट और उन के स्वभाव-सस्कार का परिचय दे दिया है पर जहा पात्रो के आन्तरिक भावो और स्वभावो की अभिव्यक्ति की अपेक्षा हुई है, पात्रो के कथोपकथन की शैली पर उन का चरित्राकन हुआ है। उदाहरण के लिए हम शिवानद को उद्धत कर सकते है। शिवानद एक ढोगी, छद्मवेशी स यासी है। वह अपनी कृत्रिम भक्ति की साधना से अधविश्वासी सेठो तथा निष्कपट सरल ग्रामीणो को ठग कर उन से प्रभूत धन ऐंठता है। भक्तो के समक्ष सदा 'शिव-शिव' की रट लगाए रहता है और उन के परोक्ष मे अपने अर्जित पैसो का लेखा जोखा करता है। उसे स्वरूपानद बराबर 'जी' कहता है। इस पर शकरानद उसे इस प्रकार समझाता है—

स्वरूपानद—"जी, अच्छा।"

"बार बार तेरा 'जी अच्छा', मुझे अच्छा नही लगता।"

"फिर क्या कहूँ ?"

"जो आज्ञा कहा कर।"

"जो आज्ञा।",

"नही, जो आज्ञा महाराज। 'महाराज' कहने की आदत डाल। यह स्कूल नही है, यहाँ जितना आडम्बर होगा उतना ही पुजोगे। याद रखो, इस काम मे बहुत चालाकी की जरूरत है, समझे। तुम लोग गले मे रुद्राक्ष की माला डाले रहा करो। 'हरि ओम' शिवोहम्' कहा करो।'

"जी अच्छा", भोला ने जवाब दिया तो स्वामी हस कर बोले—

"महाराज कह। स्वरूपानद, तू तो क्लर्क रह चुका है, जरा सब को समझाया कर।"[1]

कोई भी पात्र किसी दैवी-प्रेरणा या भाग्य-सयोग के द्वारा पराभूत न दिखा कर उन के कर्मो और भावो द्वारा उनका शील-निरूपण किया गया है। पात्रो को स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाने के हेतु उन के क्षेत्रीय शब्दो, मुहावरो, कहावतो तथा लोकगीतो का भी उन के मुख से व्यवहार कराया गया है।

चमेली को छोड कर शेष सभी पात्र वर्गीय विशेषताओ को ही अभिव्यक्त

---

१ लोक परलोक, पृष्ठ ५४।

करते हैं। यथा, विक्रमसिंह, पुरानी मनोवृत्ति की सामतशाही विशेषताओ का प्रतिनिधित्व करता है, तो सेठ जी धार्मिक अधविश्वास और दिखावटी दान-भावना का। यो उपन्यास मे सम्भवत स्त्री-पुरुष पात्रो की सख्या तीन दर्जन से भी अधिक है और सभी अचल की विशेषताओ को उभाडने मे सार्थक हुए हैं। उन मे से कुछ पुरुष पात्र तो मूर्त रूप धारण कर सके हैं।

चमेली प्रस्तुत उपन्यास की प्रमुख नायिका है। समस्त कथा-धारा का वहन उपन्यास मे इसी के द्वारा होता है। यह आकठ-पाप-पक मे डूबी वह असहाय नारी है, जिस के भौतिक अस्तित्व का, स्वस्थ एव सुखमय जीवन की खोज मे बडा ही हृदय-विदारक, मर्मस्पर्शी पर्यवसान होता है। फिर भी उस की कामनाओ की पूर्ति नही हो पाती। अपने पापो को जन्म उस ने स्वय नही दिया है, बल्कि उस गन्दे समाज और वातावरण ने दिया है जिस के प्रभाव मे रोज ही अनेक अबूझ नर-नारियाँ आती है। वह अपने पिछले पाप-मय कर्मों से सर्वथा पराड मुख हो कर साधना की ओर उन्मुख होती है। साधना के पथ पर भी नारी शिकार की चाह मे भूखे सिंह की भाति कभी ढोगी सन्यासी, शकरानद, या कभी मनीराम और कभी ललिता पडित उस का पीछा नही छोडते। वह जीवन पथ पर चलते-चलते थक कर जीवन का करुण अत करती है। पर समाज मे कही भी चैन छुटकारा नही मिल पाता। उस के प्रारम्भिक जीवन का चित्रण लेखक ने बडे ही यथार्थ रूप से किया है—

'सस्कारहीन चमेली उन स्त्रियो मे थी जिन के मन का विकास उच्छृ खल विलास मे होता है। बचपन मे माँ-बाप की अशिक्षा और लापरवाही के कारण वह गाँव के जिस वातारण मे पली उस मे नियत्रण कुछ भी नही था। वह लहर की भाँति बही, जिस मे रुकावट नही थी। आस पास की असयत कुचेष्टाओ गाली-गलौजो भरी हँसी की बातो और पशुओ की अदमित भाव भगिमाओ से आठ नौ साल की उम्र मे ही उस ने उकसाने वाला यौवन पा लिया। उस के अर्द्ध विकसित मन मे सहवास के बीज फूट पडे। तेरह-चौदह साल के होते-होते वह ललिता के साथ भागीपुर के स्टेशन पर ही पकड ली गई। सूरत शक्ल की अच्छी तो थी ही। माँ-बाप ने पास के एक शहर मे पैंतीस-चालीस के एक विधुर मुनीम के हाथो उसे बेच दिया। शहरो मे रहने के कारण चमेली ने जिस विभाग मे बचपन मे मैट्रिक तक ज्ञान पाया था, उसी मे यौन-विज्ञान-कला मे एम० ए० कर लिया। पति जैसे-जैसे निरिच्छ हुआ, पत्नी वैसे ही वैसे स्वेच्छ होती गई। विवेक का उपयोग उस ने स्वैर मे विहार किया। आचार-अनाचार मे

माना। अपने आस-पास मँडराने वाले प्रत्येक भौंरे को रस बाँट कर गुंजन मे अभिनन्दन पाया। हरिराम के इस व्यवहार से बचपन मे कुएँ की रस्सियो और डण्डो से पिटनेवाली चमेली और उद्दण्ड हो गई। वह पति के घर से भाग कर एक जुआडी के घर रही, फिर उस की घुमक्कड और चचल प्रवृत्ति ने शहर के एक प्रसिद्ध गुण्डे के साथ बाँध दिया। वहाँ से भाग कर वह डाकुओ के सरदार के पास आई। ऊबड खाबड भूमि पर घोडे की सवारी के साथ पैदल दौडना, पेड पर चढ कर छिपना, बन्दूक चलाना आदि उस ने सरलता से सीख लिया।[1]

देश काल

यह आँचलिक उपन्यास होते हुए भी इस मे देश-काल की बडी ही सफल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। यह वर्तमान भारतीय युग-धर्म का एक प्रभावोत्पादक चित्र उपस्थित करता है। तीर्थ स्थानो मे होने वाली भीषण बुराइयो, जमीदार-वर्ग की आन्तरिक कुण्ठाओ एव अन्तर्विरोधो, सेठ-साहूकारो के धार्मिक अधविश्वासो तथा जातिगत छुआछूत के लडाई-झगडो की स्वार्थमय प्रवृत्तियो का बडा ही विश्वसनीय चित्रण हुआ है। थोडी देर के लिए लगता है कि हम उन के कार्यव्यापारो की जानकारी उन्ही के बीच रह कर कर रहे हो।

भाषा-शैली

उपन्यासकार की भाषा-शैली की नवीनता और माधुर्य ने उपन्यास को और भी रोचक बना दिया है। भाषा की मिठास ने इस उपन्यास को और भी उच्छल कर दिया है। स्पष्ट ही एक आँचलिक उपन्यास होते हुए भी यह आज के युग-जीवन का चित्र उपस्थित करता है। अथ से इति तक स्थान स्थान पर मुहावरो, लोकोक्तियो तथा अर्थगर्भित सूक्तियो के प्रयोग के कारण पाठक का मन और भी उपन्यास पढने से नही भरता। शब्द-चित्रो के कारण उपन्यास के कथानक मे सरसता आई ही है, साथ ही उन के कारण कही कही लम्बे वर्णनात्मक स्थलो की नीरसता का परिहार भी होता गया है। इन के रेखा-चित्र वातावरण की सजीवता एव लोगो के रहन-सहन की प्रभावोत्पादक तथा

---

1 लोक परलोक, पृष्ठ ६५-६६

यथार्थ सृष्टि करने मे बडे ही सफल हुए हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—
"उस दिन सवेरे से ही टीले पर इतनी रौनक और चहल-पहल थी कि झुंड के झुंड स्त्री पुरुष बालक बूढे पास ही गगा स्नान करके 'जय देवी की', 'जय माता की,' 'जय कल्याणी की', जय-जय कहते ऊपर चढ रहे थे, कन्धो पर रखी बांसो की लाठियो पर धोती सुखाते, गीली धोतियाँ ओढे, नगे पैर घुटनो तक चढी धोती, मैले कुर्ते या बडी पहने चले आ रहे थे। बगल मे कधो पर पोटली रखे, पीली, लाल, काली गोट लगे छीट के लहगे, वैसी ही रग-बिरगी ओढनी ओढे, हाथो मे लाल हरी चूडियाँ, पछेली, छल्ला, कडे, गले मे हँसली, कठी, रग बिरगे नकली मोतियो, मूगो की मालाएँ पहने औरतो के झुंड टीले पर दिखाई दे रहे थे। लडके उछलते, बूढे लकडी टेकते, जवान उमगो मे भरे मन मे कामनाएँ लिए कोई कतार मे, कोई फैले-बिखरे आ जा रहे थे। किसी के सिर पर मैली टोपी, कोई नगे सिर, कोई पगडी बाँधे खखारते, हँसते, साँसो मे मनौती भरे हुए थे। सब मिला कर कथा वस्तु की रोचकता, भाषा शैली की नवीनता आदि सभी दृष्टियो से यह एक उच्च कोटि का उपन्यास बन सका है। विशेष उल्लेखनीय बात तो यह हे कि भट्ट जी अपने आचलिक उपन्यासो मे भी एक निश्चित कथा-धारा तथा सफल नायक के निर्माण के कारण पाठको पर समन्वित प्रभाव डालने मे सफल हुए है और इसीलिए इन के आँचलिक उपन्यासो को आँचलिक उपन्यासो की शुद्ध परम्परा का अध्ययन एव अनुशीलन करते समय आगे रखना होगा।

स्वयं अपनी दृष्टि में

मेरी रचना के स्रोत

रचना भूख की एक तृप्ति है, नशे का आनन्द, बेचैनी का एक प्रसव है जो खास तरह के मन मे उमँगती रहती है। उस समय मन अपने को भूल जाता है। एक तन्मयता की दशा उभरती है। वहा आँखे देखना बद कर देती हैं, कान सुनना, सारी इद्रियो के काम मूक होकर प्रेरणा के उन स्रोतो मे डूब जाते हैं। उस समय लेखक जैसे अपने को तन्मय कर लेता है।

मैं कल्पना कर सकता हूँ वाल्मीक ने रामायण कैसे लिखी होगी, कालिदास ने मेघदूत आदि महाकाव्यो की रचना किस प्रकार की होगी, भवभूति ने नाटक कसे लिखे होगे, गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का निर्माण कैसे किया होगा ? निश्चय ही ये महाकवि सृजन प्रारम्भ होने पर 'समाप्ति तक बाह्य ससार से असपृक्त और अन्तर्मन मे लीन रहे होगे, इतने लीन जिसे ससार की दृष्टि मे एक प्रकार का 'पागलपन' कहा जा सकता है। यही लेखक की समाधि दशा है। यह समाधि जितनी गहन, जितनी चिन्मय, जितनी एकान्त होती है, लेखक की रचना उतनी प्रौढ, उतनी गहन, उतनी ही शाश्वत होती है। उतना ही सत्य उसमे आकलित होता है, उतना ही आकषण सृजन का अ ग बन जाता है।

किन्तु यह समाधि दशा क्या सबको प्राप्त होती है ? लाखो मे एक ऐसा होता है, जिसे यह सौभाग्य मिलता है। शायद वे तपोभ्रष्ट योगी होते है। निश्चय है मैं उन मे नही हू क्योकि मेरे पास वैसी प्रतिभा नही है। ऐसे लेखको के पास जितनी उत्कटता चाहिए वह मुझे नही मिली। मेरी प्रेरणा के स्रोत हल्के है।

अब अपनी बात कहूँ।

मेरी कुछ प्रारम्भिक रचनाएँ तो देखा-देखी की हैं, यदि साफ तौर पर कहूँ तो शायद नकल है। पूरी तरह नकल नही, मै ने अच्छे लगने पर उनका भाव लेकर लिखा, उसी छ द मे या और कोई छन्द चुन लिया, चोरी से बचने के लिए। हा, शुरू मे मेरे मन मे एक चाह थी लेखक बनने की, कवि बनने की। सस्कार भी होगे। पर निश्चय यह है कि मैं भावापहारी कवि

बना। भावापहारी को शास्त्र चोर नही मानते, फिर भी सही तौर पर कह सकता हूँ चाहे वह चोरी मे शामिल न हो पर थी वह एक तरह से चोरी। आज मुझे यह कहने मे कोई सकोच नही है कि उसी चोरी की आदत ने मुझे आगे बढाया। मै नही जानता और लोग लिखना कैसे प्रारम्भ करते हैं।

शुरू मे मैं छुट-पुट कविताएँ लिखता था, उन्हे गाता भी, कभी मुझे लगता कि मैं धीरे-धीरे कवि बन रहा हूँ। मुझे याद आ रहा है मेरी सबसे पहली रचना (कविता) 'श्री शारदा' मे प्रकाशित हुई जो जबलपुर से निकलती थी। यह शायद १९१९-२० की बात है। इससे पूर्व एक लेख 'सरस्वती' मे निकल चुका था। वह द्विवेदी जी का जमाना था। उन दिनो मेरी दो कामनाएँ थी, एक तो यह कि मैं दार्शनिक बनूँ, दूसरी यह कि मैं कविता लिख सकूँ। सौभाग्य से 'सरस्वती' मैं लगातार कविताएँ भेजने पर भी उसमे वे नही छपी। छपी 'श्री शारदा' मे। यदि 'श्री शारदा' ने कविताएँ न छापी होती तो मैं क्या कविताएँ लिखना बन्द कर देता ? इसका उत्तर कदाचित् मैं उस समय नही दे सकता था। आज कह सकता हूँ कि इसके बाद मेरी प्रेरणा ने मुझे पागल कर दिया। सही बात यह है कि वह चोरी मुझे फली और उसने मुझे सही रास्ते पर लाकर डाल दिया।

मेने कई तरह की चीजे लिखी है। कविता, नाटक, निबन्ध और उपन्यास, कहानी भी लिखी हैं शायद एक या दो। कहानी एक तरह से नही के बराबर हैं, क्योकि मुझे कहानी लिखने की कभी इच्छा नही हुई।

कविता के लिए बाह्य स्रोत के साथ अन्त स्रोत की तीव्रता आवश्यक है, यानी अक्सर कविताएँ मेरे मन के भीतर अपने आप फूटती रही हैं। अचानक बैठे-बैठे, चलते-फिरते एक पक्ति अपने आप निकल पडी। वहा बाहर से न उस का कोई योग है और न प्रत्यक्ष। फिर भी जैसे अकाल मे वर्षा की बूँदे गिरने लगी हो। मैं सतर्क हुआ। थोडी देर उस पक्ति को गुनगुनाया। यदि वह इतनी प्रबल हुई कि उस ने मुझे दबोच लिया, खीच लिया तो फिर दूसरी, तीसरी पक्ति क्षितिज से ऊषा की तरह चमकने लगी। उस समय मैं जल्दी-जल्दी कही एकान्त मे बैठ गया और लिखने लगा। मैं बहुत भुलक्कड तबीयत का भी हूँ, याद मुझे कभी बहुत नही रहा। कभी-कभी एकाध पक्ति मस्तिष्क मे उभरी और आगे न बढ पाई तो वही छोड दी। ऐसी अधूरी रचनाएँ मेरे पास ढेरो पडी है, जिन मे कही एक पक्ति है, कही दो।

रचना का दूसरा स्रोत बाह्य भी रहा है। प्रकृति के सौन्दय, उल्लास या इसी तरह की कोई आकर्षक चीज देखी तो मन अभिभूत हो गया। वह नशा ऐसा चढा कि उस ने मुझे बेसुध कर दिया। 'तक्षशिला काव्य' या 'मानसी' मेरी एसी रचनाएँ है। तक्षशिला के खण्डहरो ने मुझे अतीत की ओर मोड

दिया। उस यात्रा मे मैं ने पाया जैसे एक-एक खण्डहर, एक-एक मूर्ति एक-एक पत्थर मुझ से अपनी कहानी कह रहे है, मुझे खीच रहे हैं। मेरी आँखो मे, मेरे मन मे, मेरे रोम-रोम मे वे छा गए हैं। 'मानसी' मे काश्मीर के विशेषत गुलमर्ग के सौन्दर्य के चित्र हैं। मुझे उस समय लगा जैसे उस के राशि-राशि सौन्दर्य ने मुझे, मेरे प्राणो को बाँध लिया है। सारा प्रदेश जीवन्त हो कर आनन्दविभोर हो उठा है। मै ने पाया जैसे मनुष्य को जो इतनी खुशी, इतना आनन्द मिला है उस का मूल स्रोत प्रकृति के इस बहुरगी चित्र के रोम-रोम से जैसे फूटा पड रहा है। फिर भी हर फूल मे जैसे कीडा बैठा है। वैसे ही मनुष्य के भीतर कालकीट बैठा उसे खा रहा है। इसी तरह की कहानी 'मानसी' मे है। यह नही कहा जा सकता सभी रचनाएँ अन्तर्मुख हो कर लिखी जाती है या केवल बहिर्मुख हो कर। इस का कोई नियम भी नही है। 'प्रसाद' की कामायनी निश्चय ही अन्तर्मुखी रचना हैं। उस का सारा ससार उन के मन का है। किन्तु मन मे कहा से आया, बाहर से ही तो ? जो कुछ हम बाहर से देखते है उस का अच्छा या बुरा प्रभाव निरन्तर मन पर पडता रहता है। वे विचार हमारे मन पर चिपकते रहते है। समय पा कर वे ही उद्बुद्ध हो कर हमे झकझोरने लगते है। उस समय जो रचना आकार धारण करती है वह उस का अन्तर्मुखी रूप है। बाह्य स्रोत से प्रेरित होने पर कोई रचना तत्काल ही प्रनिफलित नही होती। उसे पकने के लिए समय की आवश्यकता है। मैं ने पाया कुछ चीजें जो बाहर से देखने पर प्रभावपूर्ण और आकर्षक लगी वे अन्तस्थ होने पर सूख गई। वसे भी यह आवश्यक नहीं है कि हर लेखक हर बडी या छोटी घटना के प्रति आकृष्ट हो। समझ लेना चाहिए यदि लेखक के मन पर घटना या कोई वस्तु प्रभाव पूर्ण सस्कार डालेगी तो उसे वह अवश्य लिखेगा। उस समय उसे लिखने से कोई नही रोक सकता।

आश्चर्य की बात है कि नाटक के सम्बन्ध मे बचपन के सस्कार काफी दिनो तक दबे रहे। कायदे से उन्हे कविता की रचना के साथ उभरना चाहिए था। जहाँ तक मुझे याद है लिखना शुरू करने के दस-बारह वर्ष बाद एक दिन मुझे ऐसा लगा कि मुझे नाटक लिखना चाहिए और इतनी बचैनी हुई कि मैंने चितरजनदास नाटक आठ दिन के भीतर लिख डाला। इसकी प्रेरणा कहाँ से आई, मैं समझने मे आज भी असमर्थ हूँ। फिर तो वह क्रम चल पडा। जैसे मै अपने से विवश हो गया। दिन-रात नाटको के प्लाट बनाता, सवादो की कल्पना करता, चरित्रो का निर्माण करता। ढूढ-ढूढ कर सामग्री तैयार करता। जो विषय मैंने कभी छूए नही थे अब वे इतिहास-पुराण की पुस्तकें मेरी प्रिय बन गई। 'दाहर' नाटक लिखने के लिए मैंने 'चच नामा' जैसी क्लीष्ट दुर्लभ पुस्तक ढूढ निकाली। उसे पढा। नोट लिए। पुराण पढे। महाभारत पढ

डाला। प्रत्येक पात्र रात मे, दिन मे मुझ से बोलता, अपनी कहानी कहता। रोता, हँसता। वीरता के लिए, प्रेम के लिए, प्राण समर्पण करने को तैयार दिखाई देता। घर मे, बाहर सडक पर, आँखो मे प्राचीन काल का वातावरण, वसे ही कपडे, वैसा ही रग, वैसी ही सजधज, वेश-भूषा दिखाई देती। इस का परिणाम एकाध बार यह भी हुआ कि मे मोटर, तागे के नीचे आते-आते बचा और एक बार तो एक गढे मे ही जा गिरा। सब कपडे खराब हो गए, उठकर जब खडा हुआ तो आखो मे फिर वही पुराना रग, वही वातावरण, सब कुछ वही। जाने चोट क्यो नही लगी। जबकि सिर से तो कम से कम खून निकलना ही चाहिए था। दो तीन जगह खरोच लग कर रह गई। दो-तीन बार ऐसा भी हुआ कि मै कही चला और दूसरी जगह जा पहुँचा। उन दिनो मैं एक कॉलिज मे पढाता था। वहाँ अक्सर पीरियड समाप्त होने के बाद पहुँचता।

ये ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखने के समय की कुछ बाते है। इन का प्रेरणा-स्रोत भीतरी है, सस्कार-जन्य। मैं ने तीन भाव-नाट्य भी लिखे है—'मत्स्यगधा', 'विश्वामित्र', और 'राधा'। उन दिनो मै 'विद्रोहिणी अम्बा' लिख चुका था, महाभारत की अम्बा। गर्मियो की छुट्टियाँ थी। मैं ऋषिकेश मे था। दिन-भर घुमक्कडी करता और रात को पैर फला कर आराम से सो जाता। एक रात की बात है, दिन भर घूमने के बाद रात मे मैं लेटा ही था कि एक दम आँख खुल गई। बेचैनी सी मालूम हुई। इस से पूव ऐसा कई बार हो चुका था। मैं सजग हो गया। सत्यवती का चित्र सामने आया। जैसे मै उस के सारे जीवन का चित्र सामने देख रहा होऊँ। बडी वेदना थी, पहली पक्ति उभरी। कागज-कलम ले कर बैठते ही छदोबद्ध पक्तिया आने लगी। उस रात सबेरे तक लिखता रहा। तीन दिन तक नशा रहा। वह नाटक समाप्त हुआ। इसी तरह का, इस से कुछ हल्का 'विश्वामित्र' लिखते समय हुआ। 'राधा' मे मुझे अधिक दिन लगे। बडी चीज लिखने के समय यदि मैं ने सुबह या दोपहर का कोई समय निश्चित किया तो ठीक उसी समय लिखने की बेचैनी होती। तीनो भाव-नाट्य मै ने रात को नौ बजे से बैठ कर लिखे। उस दशा मे बिना नागा मुझे उस समय लिखने बैठ ही जाना चाहिए नही तो थोडी देर तक बेचैनी अवश्य रहती। लिखना प्रारम्भ करने से पूव कागज-कलम सम्भालने और पान खा कर तैयार होने मे मुझे सूझ जाता था कि मैं क्या लिखने जा रहा हूँ।

सामाजिक एकाकी-नाटको मे प्रत्यक्ष दशन ही मेरे साथ रहा है। उन के प्राय सारे पात्र नित्य के जीवन से मिले है। घटना, वस्तु, सवाद, वातावरण—सभी मे मुझे बाहरी जगत से प्रेरणा प्राप्त हुई है। तीस-चालीस या जितने

भी एकाकी-नाटक लिखे गए है उन के सारे पात्र या तो मेरे मित्र हैं या वे लोग, जिन्हे मैं ने बहुत नजदीक से देखा है, उन मे कोई विशेषता पाई है, उनके झूठ सच छल-कपट, राग द्वेष मेरे नाटको मे आए है । इन मे गरीब, अमीर सभी तरह के लोग है । 'नए मेहमान', 'नया नाटक आदि एकाकी मेरे घर की घटना पर आधारित है । लोगो के घर चाय पीते, बातें करते, हसी-मजाक करते मैं ने उन्हे और उन की पत्नियो, बहनो, माँओ को अपने नाटक का पात्र बनाया है । इस से लोग मुझ से नाराज भी हुए है। उनका तिरस्कार भी मैं ने सहा है । गालियाँ भी खाई है । उन के दरवाजे सदा के लिए मेरे लिए बन्द हो गए हैं । इतने पर भी मै ने उनके साथ छल नही किया । ईमानदारी से यथाथ रूप मे उन की कमजोरी, उन की विशेषताओ को नाटक मे उभार कर रख दिया है। कल्पना का ब्रुश उतना ही फेरा है जितने से वे चमक उठ । 'बाबू जी' नाटक के पात्र आज भी मुझ से बहुत नाराज है । एक बार जब मैं उधर गया तो मुझे देखते ही उन्होने घर का दरवाजा बन्द कर लिया । भिखारियो का चित्र देते समय मै ने कई राते उनके पास बैठ कर गुजारी है । बम्बई के मजदूरो की चाले देखने के लिए मैं ने एक मजदूर को शराब पिला कर उस से दोस्ती की । बम्बई के मछलीमारो पर उपन्यास लिखते समय मैं ने मछली की बू से सिर भन्नाने और निरन्तर मतली आने पर उन की बनाई चाय पी है । चिवडा ऐसे खाया है जैसे नीम चबा रहा हूँ । रुचि-अरुचि को ताक मे रख कर अपने को वसा बना कर उन का जीवन देखा । वह विकट प्रसग मुझे आज भी याद है जब एक कोलिन (मछलीमार स्त्री) ने मुझे खाने का निमन्त्रण दिया । उस समय मुझ गरीब निरामिष भोजी ब्राह्मण की जो दशा हुई होगी उस की आप कल्पना भी नही कर सकते । वह मछलियो से भरी पीतल की थाली मे भात मिलाकर कडर-कडर मछलियाँ चबा रही थी । उस का पति कुछ दोस्तो या रिश्तेदारो के साथ बैठा जाल बुन रहा था । नगी-धडगी लडकी दो-चार मछलियाँ हाथ मे दबाए चबा रही थी । मैं उस के घर तीसरी बार गया था । परिचय बढने के साथ वहाँ पहुँचते ही यह निमन्त्रण मिला । यही नही, चौके मे बैठी अपने लडके की बहू को उस ने मुझे देखते ही आदेश भी दे दिया ।

मेरी झूठ बोलने की आदत नही हैं पर उस समय प्राण पर आ बनी थी । मैंने बहाने बनाए । किसी दूसरे समय खाने का वायदा ले कर उसने छोडा । यह उस भली आदमिन की समझ मे नहीं आ रहा था कि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मास-मछली नही भी खाते । उस समय मुझे लगा सही मानो मे लेखक बनना आसान नही है । इन्ही दिनो रोगटे खडे करने वाली मछलीमारो की नाव मे यात्रा की बात भी याद आती है जब मैं समुद्र की तेज लहरो के

छपाके से नहाता, हवा के चाँटे खाता उन की नाव मे दस बारह मील दूर समुद्र मे गया था। मौत तो उस समय जैसे हर लहर के साथ मुह बाए चली आ रही थी। छोटी नाव, अगाध जल-राशि, तेज लहरे, नागिन की तरह फुँफकारती—यह सब दृश्य आज भी जब याद करता हूँ तो डर लगता है। फिर नाव मे मछली की बू मेरे दिमाग मे जो बसी तो हफ्तो नही निकली।

ऐसी बहुत-सी कहानियाँ है। नाटक और उपन्यास के सभी पात्र मैं ने समाज से चुने हैं। 'एक नीड दो पछी' की सुधी, 'डॉ० शेफाली' का बातूनी प्राणनाथ, बगाली डॉक्टर (क्रान्तिकारी) आदि सभी पात्र मेरे देखे, सुने और पहचाने है पर कल्पित नाम वाली 'सागर, लहरे और मनुष्य' की रत्ना ने तो मुझे आत्मसात कर लिया। उस का वह रूप मैं कभी नही भूलूगा।

यही कुछ है मेरी प्रेरणा के स्रोत, जिन को मैं ने अनुभव की कलम से चित्रित किया है।

मैं मानता हूँ साहित्य मे तटस्थता का कोई अर्थ नही है, वह केवल धोखा है। साहित्यिक बनने पर तन्मय हुए बिना जीवन नही मिलता। साहित्य मे अपने को गला देने पर उस मे जीवन आता है। इस दृष्टि से मैं मानता हूँ कि लेखक का न कोई धम है, न जाति, न वग है, न लिंग। उसके भीतर अनन्त चिपचिपा मन है, जिस पर छोटी, बडी, साधारण, असाधारण बातो का प्रभाव पडता रहता है। इसीलिए उस का मन औरो की अपेक्षा अधिक सवेदनशील, अधिक रसग्राही होता है। वह बच्चो की तरह है जो बात-बात पर रो देते हैं और बात-बात मे खिल-खिलाकर हँसने लगते हैं और भूल जाते है सब पिछली बातें घडी-भर मे। मुझे भी न जाने कितनी बार अपने पात्रो की परिस्थितियो के साथ रोना पडा है। आज भी अपने उन मूर्त्त चित्रो के साथ मैं अकेले मे खेलता रहता हूँ।

सास्कृतिक आदर्शवादी रचनाओ के पात्रो की सृष्टि के पीछे एक परम्परा-प्राप्त पृष्ठभूमि होती है। एक निश्चित रूपरेखा होती है। अत उस के निर्माण मे लेखक को बहुत कुछ उस वातावरण का पालन करना होता है। वहाँ अपनी बात कहने को कम रहती है। लेखक केवल उस मे रूप-रग भर कर प्राण डालता है। बहुत हल्का मास वह अपने युग का लगा पाता है। उस मे लेखक का तत्कालीन अध्ययन ही काम देता है जबकि वतमान युग की रचना मे लेखक की दृष्टि ही सब कुछ है। उन का अनुभव, तीक्ष्णदर्शिता, विषय की परिपूर्ण ग्राह्यता रचना पर निर्भर करती है। इसलिए मैं मानता हूँ प्राचीन आदर्शवादी रचना का प्रणयन आधुनिक युग की रचना की अपेक्षा

सुकर है। वहाँ प्रेरणा का स्रोत उस का अध्ययन है, तत्कालीन जीवन की सास्कृतिक सागोपागिता। यथार्थवादी आधुनिक रचना मे लेखक की वास्तविक परीक्षा होती है जिस मे पात्रो के द्वारा उसका युग बोलता है, वह स्वय बोलता है।

फिर भी प्राचीन युग के वे पात्र जो काल की छलनी मे गिरने से बच गए हैं हमारी प्रेरणा को जितना आकृष्ट करते हैं, अपनी जीवन शक्ति से रचना को जितना प्राणवान बना पाते हैं उतना आधुनिक युग के साधारण पात्र नही बना पाते। इस का एक कारण यह भी है कि वे युग मे अभी अदम्य नही हो पाए, शक्ति और सघर्ष मे पिस कर लौह-पुरुष नही बन गए। ऐसी दशा मे यह लेखक के हाथ मे है कि वह उन पात्रो को 'अर्नेस्ट हेमिंग्वे' के 'ओल्ड मैन एण्ड सी' का मछुआ बना दे, अथवा वह सम्पूर्ण ग्राम-समाज का प्रतिनिधि 'होरी' बना सके। यह लेखक की 'प्राप्त काम' शक्ति पर निर्भर करता है।

साराश यह, कि बहुत कुछ लेखक अपने जीवन के अनुभव के आधार पर लिखता है चाहे वे बाह्य हो या आभ्यतर। रुचि का निर्माण उसके सस्कार करते हैं। मेरी रचनाओ की पृष्ठ भूमि मे बाह्य और आभ्यतर, दोनो का सहयोग है। फिर भी मैने माना है कि समाज के प्रति साहित्य का जो देय है वह पूर्ण होना चाहिए। साहित्य समाज के लिए है, जनता के लिए। नदी, झरने, बाग, पर्वत, वन-माला का सौन्दर्य जैसे जीवन के लिए है, जीवन को प्रोद्दीप्त करने, उसे उल्लसित करने के लिए है, इसी प्रकार साहित्य भी जीवन के लिए है, जीवनीय शक्तियो को विकसित करने के लिए है। इस दृष्टि से जितना श्रेय है वह साहित्य मे आना चाहिए। साहित्य चिरन्तन सत्यो का विशदीकरण है। वह मनुष्य की उदात्त भावनाओ द्वारा रसमय, प्राणमय बनता है। लेखक का कर्त्तव्य है कि मनुष्य के भीतर और प्रकृति के अन्तराल मे मे जो जीवन के लिए उपादेय है वह ग्रहण कर के लोक-मानस को समृद्ध करने के लिए बाँट दे। लेखक भौंरे के समान है जो ससार के विभिन्न मानस-पुष्पो का रस ग्रहण कर के आत्मा को बाँटता है। अन्तर यह है कि भौरा रस का सग्रह अपने लिए करता है जबकि लेखक आत्मतोष के साथ दूसरे को भी देता है।

वस्तुत लेखक का 'स्व' दूसरो की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उस का 'स्व' ससार व्याप्त है। वह प्रत्येक जन के क्रिया कलाप, राग द्वेष, हर्ष-मोह से अभिभूत हो कर उन्हे अपना सुख-दु ख देता है। इसलिए उस के द्वारा दिया गया रस-प्रवहण भी दूसरो के लिए है। कला का सौन्दर्य अभिव्यक्ति कौशल मे है और अभिव्यक्ति सदा दूसरो के लिए होती है। फलत साहित्य गूगे के गुड का स्वाद कदापि नही है। साहित्य जीवन के अनुभावो का उदात्तीकरण है।

इसीलिए यह आवश्यक है कि लेखक मानस मथन से उद्भूत अमृत-प्राप्ति तक प्रतीक्षा करे एव सद्य प्रसूत विष को पी जाय। साहित्य मे अनुभव का जो भोजन बिना पचे निकल जाता है उस मे रस की अपेक्षा विष ही अधिक होता है। हमे उसी विष से साहित्य को बचाना चाहिए।

नाट्य रचना-प्रक्रिया और उद्देश्य

नाटक लिखने से पहले मैं उसका ढाँचा तैयार करता हूँ। नाटक के पात्र या प्लाट घूमते-घामते मुझे मिल जाते हैं। दिमाग उसी समय चलने लगता है। जब 'फ्रेम' तैयार हो जाता है तभी लिखता हूँ। लिखने के लिए लिखना मुझे पसन्द नही है। दिमाग पर जब 'प्रेशर' पडता है, बेचैनी होती है, तभी लिखता हूँ। कभी यह बेचैनी इतनी तीव्र हो जाती है कि रात को सोने से उठ कर लिखना पडता है। न लिखू तो नींद नही आती। पर अब वैसे लिखना बन्द कर दिया है। एक बार तीन महीने तक नीद नही आई, इन्सोन्यिा(उन्निद्र रोग) हो गया। नही तो इस से पूर्व रात रात भर लिखता रहा हूँ।

मेरे लिखने के दो प्रकार है—नियमित रूप से, और जब इच्छा हुई। जब कोई लम्बी चीज हुई तब ठीक उस समय लिखने की स्फूर्ति होती है। और छोटी चीज जब प्रेरणा हो तब।

कई नाटक और कविताएँ है जो वर्षों से अधूरी पडी हैं। उन की रचना के समय या तो प्रेरणा समाप्त हो गई या प्लाट कमजोर निकला और नाटक के ढाँचे मे फिट नही बठा। पहले तो यह क्रम था कि मैं ६ मास तक पढता था। दो मास मनन करता था और चार मास लिखता था, पर अब वैसा नही होता। कुछ आलसी भी हो गया हूँ। कभी-कभी नाटक का कोई प्लाट दिमाग मे आया पर ठीक समय पर उस का उपयोग न होने पर उस की हत्या भी हो जाती है। मेरे नाटको मे चरित्र के अनुसार घटनाए होती है, घटनाओ के अनुसार चरित्र नही। इस से यह न मानना चाहिए कि मैं घटना-प्रधान नाटको के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। मेरे शक विजय, दाहर अथवा सिन्ध पतन आदि कुछ नाटक घटना प्रधान ही है। नाटक मैं साहित्य का सब से सबल अग मानता हूँ। क्योकि यही पठित अपठित सभी पर अपना प्रभाव डालता है। जब कि उपन्यास कहानी, कविता केवल पढे लिखे रसिको के लिए हैं। युग निर्माण मे नाटक का बडा महत्व होता है। यही कारण है नव जाग्रत चीन, रूस आदि देशो का

जनता ने नाटक के प्रति अधिक ध्यान दिया है। फिर नाटक लिखना बहुत कठिन भी है। न तो मामूली मनोरजन उस का ध्येय है न उपदेश देना। मैं नाटक को आज के युग के लिए सोद्देश्य रचना मानता हूँ। केवल कला को मैं ने कभी महत्त्व नही दिया।

युग निर्माण के लिए साहित्यकार का विद्रोही होना आवश्यक है, जो दुष्प्रवृत सामाजिक शरीर के फोडे को दबा न दे बल्कि उस का शल्यीकरण कर सके, पर कला के माध्यम से। आज तो कभी-कभी लगता है कि कला ने हमारा अहित भी कम नही किया है। उस के द्वारा उत्पन्न आनन्द और मनोरजन मे वास्तविक वस्तु की हत्या हो जाती है और पाठक या दर्शन उतना भर आनन्द तो ले लेते हैं, पर साहित्यकार का देय भूल जाते हैं। शायद इस मे साहित्यकार के देय और कला के रूप-विधान मे एक त्रुटि है, यही कहना होगा। आज के लिए हमे अपने व्यग्य को और भी तीखा करना होगा, उसे शल्य के औजार की तरह तेज करना होगा। साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति और समाज के विकार का शल्यीकरण है।

मैं ने कई तरह के नाटक लिखे हैं। प्रागैतिहासिक, जैसे आदिम युग,' 'मनु और मानव,' 'प्रथम विवाह' आदि। मध्यकालीन जैसे 'कालिदास' 'कुमार सभव' 'शशिलेखा' आदि। ऐतिहासिक जैसे 'दाहर अथवा सिन्ध पतन, 'विक्रमादित्य' 'शकविजय' आदि। 'सामाजिक' जैसे 'कमला' 'अन्तहीन अन्त' तथा अन्य। 'मत्स्य-गन्धा' मेरा सब से प्रिय भाव-नाट्य है। मेरे एकाकी नाटक अधिकतर सामाजिक हैं, जिन मे व्यग्य को अपनाया गया है। सब से पहले मैं ने १९२१ के असहयोग आन्दोलन के दिनो मे 'चितरजन दास' नामक बडा नाटक लिखा। इस नाटक को खेले जाने पर स्थानीय असहयोग आन्दोलन को गति मिली। कई बार खेला गया। वैसे वास्तविक नाटक लिखने का क्रम १९२९ से शुरू होता है, और एकाकी नाटक मैं ने कब लिखना शुरू किया। यह ठीक याद नही है, फिर भी 'एक ही कब्र मे' या 'दस हजार' शायद मेरा पहला एकाकी नाटक है। अब तक मैं चौदह बडे नाटक और लगभग पचास एकाकी नाटक लिख चुका हूँ। ढर कम नही है। लेखक समय की आवश्यकता के अनुसार साहित्य निर्माण करता है। वह निर्माणसमय को प्रेरणा दे कर समाप्त हो जाता है, यदि उस मे प्रेरणा देने की क्षमता हो। समय की काल दाढ मे कुचले जाने पर भी जो फौलादी शक्ति सम्पन्न साहित्य अक्षत रहता है या काल के समुद्र मे स्वय उसे उभार कर प्रकाश स्तम्भ की तरह आने जाने वालो को मार्ग दिखा सकता है। ऐसा

साहित्य और ऐसे साहित्यकार कम ही हैं। मैं ने कभी गर्व नही किया कि एक या सवा फुट की उठान का मेरा यह लघु दीपक साहित्य दो-चार गज से अधिक प्रकाश बिखेर सकेगा, फिर इस के प्रकाश मे किसी को कोई खोई चीज मिल जाए तो मेरा सौदा बुरा नही कहलाएगा।

नए मोड़ : डा० शेफाली

'नए मोड' मेरा दूसरा उपन्यास है। वैसे साधारणतया मैं गद्य मे नाटक, स्कैच और कभी-कभी निबन्ध जैसी कोई चीज लिख लेता हूँ और लिखता भी तभी हूँ जब भीतर से कोई बात स्वय बाहर निकलने के लिए बैचैन हो उठती है। उस समय मेरे भीतर से निकलने वाली बात स्वय अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम ढूंढती है तो कभी वह कविता, कभी नाटक और निबन्ध के रूप मे प्रकट होती है। लेकिन जब मैं कोई बडी बात कहना चाहता हू तब मुझे उपन्यास जैसे किसी माध्यम की जरूरत पडती है। कहानी मैं बहुत कम लिखता हूँ या लिख नही पाता। वह काम मैं एकाकी नाटक से लेता हूँ। मुझे ऐसा लगता है बात को कहने के लिए ही साहित्य के ये अग है और आज जब मनुष्य की समस्याएँ इतनी गहन और इतनी उग्र हो गई हैं तो उन का केवल कविता के माध्यम या नाटक से कह पाना कुछ कठिन जरूर है। वह एक ऐसा माध्यम पाना चाहता है जिस मे न किसी छद का बन्धन हो और न दूसरो के मुख से वह कहलवा कर सतुष्टि लाए। ऐसी परिस्थिति मे वह उपन्यास की शरण लेता है, क्योकि उपन्यास मे अभिव्यक्ति का रूप बडा विशाल, और प्रौढ है। जहाँ लेखक हर तरह से अपने को प्रकट कर सकता है, इसी लिए मै ने भी उसी का अनुसरण किया है। इस मे कई ऐसी बातें हैं, कई ऐसी समस्याएँ हैं, कई ऐसे प्रश्न है जो हमारे प्रतिदिन के जीवन मे उभर कर प्रश्न चिह्न बनाते रहते हैं। वे प्रश्न चिह्न चिरकालीन होते हुए भी हर दिन की तरह अपने नए रूप मे नई उग्रता-व्यग्रता से प्रकट होते हैं। जैसे ही-जैसे समाज बढता है, वैसे ही उस की समस्याएँ भी उन्ही रूपो मे प्रकट होती है।

प्रस्तुत उपन्यास की प्रधान पात्रा डॉ० शेफाली है। शेफाली साधारण मध्यम वर्ग के परिवार की लडकी है, जिस का एक साधारण पढे लिखे लडके से विवाह हो जाता है, पर बारात विवाह के बाद लौट आती है, क्योकि जिस तरह ब्याह हुआ उस मे डॉ० शेफाली के पिता को बेईमानी से रुपया लेना पडा और वह विवाह के समय ही पकड लिया गया। वर के पिता ने इसे अपमान माना और कन्या को उस की माँ के पैर पडने पर भी छोड कर चला आया। शेफाली की माँ ने उसे जैसे-तैसे पढा कर डॉक्टर बना दिया। इस तरह शेफाली के जीवन की आर्थिक समस्या हल हो गई, लेकिन मनुष्य के सामने केवल आर्थिक

समस्या ही तो नही हैं, उस के मन मे उत्तुग मानसिक लहरो का भी स्रोत बहता है। उस के लिए वह क्या उपाय करे, किस तरह उस का समाधान हो? विवेक और विचारो के दोनो किनारो से टकराती हुई जो तीव्र वेगवती कामना की नदी उस मे बह रही है वह उन्हे तोडने लगती हैं और चाहती है कि खुल कर मुक्त वातावरण मे विचरे। समाज का व्यवधान वह तोड देना चाहती है, पर उस को तोड देने पर भी क्या वह ठीक तरह से रह सकेगी, और अबाध निश्चित गति से वह जिन्दगी बिता सकेगी?

यही प्रश्न शेफाली के भीतर उठता रहता है, जैसे उस के चारो ओर मर्यादा का एक घेरा है। हमारे मध्य परिवार मे ऐसी घटनाएँ होती है, जहाँ व्यक्ति अपने भीतर के वेगो मे सामाजिक कुठा का अनुभव करता है।

मनुष्य समाज की एक रूढ व्यावहारिकता मे बन्धा चलता है। वह एक-दम तोडने का विचार कर के भी उसे तोड नही पाता। शेफाली का जीवन इसी तरह का है। वह जहाँ पढी-लिखी है—वहाँ वह स्त्री भी है या आगे बढना चाहती हुई भी उतना आगे नही बढ पाती, जहाँ उस की उमगें, उस का अ तमन उसे ले जाना चाहता है। एक तरह से विद्रोह करती हुई भी विद्रोह को इतना नही उभरने देना चाहती कि डॉक्टरी जैसे उस के पेशे को धक्का लगे। पढी-लिखी वह है और सुसस्कृत भी है। वैसी दशा मे उच्छृखलता उसे खटकती है। वही सघर्ष शेफाली मे है। वह आस्थावान हिन्दू परिवार की लडकी है। जहा रूढियाँ-मर्यादाएँ उसे विरासत मे मिली है वहाँ सोचने समझने का मादा भी। ऐसी दशा मे जैसा आज का प्राय कल्चड परिवार होता है वह भी उसी का प्रतीक है। इस दृष्टि से यह यथार्थ भी है। इसलिए न तो वह एक-दम इतना आगे बढ जाती है कि ऊबड खाबड कामना के वन मे विचरने लगे और न वह सेठ राममोहन के प्रलोभनो मे फँसती है। वह विद्रोह करती है, पीछे भी नही हटती, पर वह इतना आगे भी नही जाती। वह प्राणनाथ नाम के बैरिस्टर के सम्पर्क मे आती है। उस की बातचीत, उस के रूप, उस की योग्यता कौशल से वह प्रभावित होती है, पर एकदम उसे आत्म समपरा नही कर देना चाहती। वह डाक्टर है, मनुष्य की काम-कला का उसे ज्ञान है, सौन्दय की प्राप्ति के लिए वह सचेष्ट है फिर भी जैसे वह सोच-सोच कर कदम रखती है, आगे बढती है।

राममोहन वही व्यक्ति है जिस से उस की शादी हुई थी। वह डाक्टर बनने के बाद उस की सुन्दर पत्नी साधना का इलाज करती है, उसे अच्छा भी कर देती है। शेफाली के मन मे स्त्री जनोचित ईर्ष्या भी जागती है। पर उस ने डाक्टरी के अपने पेशे को जन-सेवा का साधन मान लिया है और उस सेवा मे ही वह ईर्ष्या-द्वेष तथा काम-वासना को दग्ध कर देना चाहती है। यही उतार-चढाव उस के भीतर होता रहता है। वह जहाँ उपनिषद्, गीता पढती है, अपने मन के वेगो को दबाने के लिए वहाँ वह अपने को ही अपनी

प्रतिकृति के आलिंगन-पाश मे बाध देना चाहती है। वह एकान्त मे जगन्नाथ के सोते हुए लडके को गोद मे ले कर उस का मुँह चूम-चूम कर अपने मातृत्व की भूख मिटाना चाहती है, उसे चिपटा कर जैसे स्वय माता बन जाना चाहती है, या कि मातृत्व मे उठे उन्नत स्तनो को पयोधर से सिक्त कर देना चाहती है।

उस के साथ बगाल के अकाल मे वेश्या के घर से मिली एक लडकी है—शुभदा। उस मे विद्रोह है, जीवन के प्रति विद्रोह, धम के प्रति विद्रोह, समाज के प्रति विद्रोह। वह न ईश्वर मे विश्वास करती है, न समाज की इस रूढि मे, जिस ने उस के परिवार को भूखा मार डाला। उस का समाज, उस का बगाल बेजान हो कर दम तोड रहा है। यही विद्रोह की आग उस मे है। उस के हृदय की कामना पूजीपतियो के प्रति विद्रोह है, समाज की विषमता उसे खटकती है, वह उसे तोड देना चाहती है। यदि किसी तरह भी इस समाज के ऊपर एक वह अणुबम गिर जाए तब भी शायद उस के जी की जलन और प्रतिरोध की भावना शान्त न हो सकेगी। शुभदा को उस समय के मालदार राममोहन से घृणा है। वह बहन का आदर करती है, वह जानती है कि बहन ही उस का पालन कर रही है। फिर भी जब-तब उस की विद्रोहिणी भावनाएँ बहन के साथ वाद-विवाद के रूप मे उग्र हो उठती हैं, जैसे बडी नदी मे उछलता-कूदता झरना आ कर मिलता हो और भीतर से उग्र और बाहर से शान्त उस नदी मे निरन्तर एक सघष उठता रहता हो। शुभदा दिल्ली मे रहती हुई भी बगाल और बगाली जाति की कष्ट-मुक्ति का स्वप्न देखती है। जब कि शेफाली एकदम विशाल दृष्टिकोण की स्त्री है। उस की दृष्टि मे यह सारा भारतवष है और यहा के निवासी अपने है। प्रान्तीयता जैसे विष है, जो सकुचित दृष्टि से निर्जीव कोरो मे छलकता रहता है। ब्लैक-मार्केटिंग, सामाजिक-विषमता के प्रति शुभदा का विद्रोह जैसे उस के नस-नस की चिर-कामना हो।

प्राणनाथ इस उपन्यास का एक भौतिकवादी विचारक है, पर फैशनेबुल प्रकृति का होने के कारण केवल विचारो के द्वारा सब-कुछ बदल देना चाहता है। वह शेफाली और डॉ० चौधरी के मस्तिष्क मे ईश्वर-धर्म सम्बन्धी उठी तथाकथित विकृतियो पर धना प्रहार करता है। जहाँ उस के भीतर की सैक्स-जन्य कमजोरी उस का वाक्-कौशल बन कर निकलती है, जिस से वह शेफाली का हृदय जीत लेना चाहता है, वहाँ वह एकदम यथार्थवादी भी है, उस का लक्ष्य अपने स्वाथ की ओर भी है। वह दयावान उतना बनना चाहता है जितने से उस के युग का एक व्यक्ति, अपने को सुरक्षित और अपने अस्तित्व को बनाए रख सके, हो सकता है जीवन उस की दृष्टि मे आत्मसुख है, वह चतुर कम्युनिस्ट बुर्जुआ है, जैसे कि आजकल केवल बातो से समाज-सुधार कर देने की कामना करते उस प्रकृति के लोग देखे जाते है। वह भौतिकवाद पर बडे-बडे भाषण झाड सकता है, पर करने के नाम पर केवल शेफाली को अपनी

पत्नी ही बनाना चाहता है, उस के रूप-सौन्दर्य की तह मे डूब कर अपनी प्यास बुझा लेना चाहता है। उसी के रूप के मुकाबले मे तारा है, जिस का अपना कुछ भी नही है, सघर्ष द्वारा अत्याचारी समाज का नाश कर देना चाहती है, अपनी पार्टी के ध्येय के लिए अपना यौवन, अपनी अकाक्षाए, अपनी कामना विसर्जित कर देती है। जगन्नाथ (हीरादेई का पति) उस का साथी है। वह एक रात तारा को बलात् अपनी वासना के आलिंगन-पाश मे बाँध लेता है जिस का वह प्राणपण से प्रतिरोध करती है, फिर भी ध्येय उस के सामने है। गति उस की कही नही रुकती। वह अकेली ही जैसे अपने भीतर जलती सामाजिक विषमता ही आग को पी जाना चाहती है। तारा वह आग है, जो पानी पड जाने पर भी बुझती नही, धधकती रहती है।

जगन्नाथ परिस्थितियो का कमजोर चित्र है, जो समाज के रूप को बदल तो देना चाहता है, काम भी करता है जेल भी जाता है, पर अपने मन की उमगो का दास भी है। यही जगन्नाथ की कमजोरी है पर परिस्थिति से विवश हो कर कम्यु-निस्ट बना है, उस के भीतर के विवेक ने, जीवन की सूक्ष्म दृष्टि ने उसे वैसा पैना नही बनाया। इसीलिए वह सतत् अतर्ज्वलन्त तारा की तरह दृढ नही है। वह एक ओर तारा को ताकता है तो दूसरी ओर गरीबी से अपनी रक्षा करने वाली अपनी पत्नी हीरादेई को याद कर अपने सेक्स की प्यास बुझाने मे लगा है। हीरादेई एक साधारण स्त्री है, जो रूपवती है और जिसे अपनी सलौनी आँखो की चितवन पर गर्व है, जिस की न कोई पृष्ठभूमि है और न कोई विचार ही उसे उत्तेजित करता है। जगन्नाथ के अभाव मे वह सुन्दर गायक और कवि गिरधर को आत्म समर्पण कर देती है और उस की बाहरी सुन्दरता के रूप-स्रोत मे अपने को डुबा देती है। वह एक चित्र है, जो जीवन मे प्राय सभी जगह विशेषकर हमारे जनसमूह मे मिलता है। उस मे कोई आकाक्षा नही है। वह स्त्री है जो गरीबी मे पिसने से बची रहने पर केवल अपनी यौन-तृप्ति चाहती है, जिस का प्रेम वासना से उत्पन्न होता है और जो प्रेम और वासना मे कोई भेद भी नही करना चाहती। शायद ऐसा कोई भेद है भी नही। यही वह कहती भी है। साधना राममोहन सेठ की पत्नी पढी-लिखी होने से आजकल की कुछ युवतियो की तरह विलास की प्रतिमा है। वह भोग चाहती है, त्याग नहीं कर सकती। उस का त्याग भोग मे है, फिर भी उस के भीतर के सारे मानवीय गुण समाप्त नही हो गए है वह शेफाली के प्रति काफी उदार है। उस का एक कारण यह भी है कि शेफाली उस से किसी तरह भी कम खूबसूरत नही है। उस ने उस की जान भी बचाई है। साधना उस युवती के समान है, जिसे बुर्जुआ जगत मे सिवा भोग विलास के कोई काम नही है, जो सभ्य समाज का कलक जीवी वर्ग है। वह जीवन मे शृगार-प्रसाधन द्वारा अपना रूप बनाए रखना ही चाहती है और फैशनेबुल रूप मे दान की महिमा को स्वीकार करती है, जो मीठा बोलती है, धीरे बोलती है इसलिए नही कि यह मानव का गुण

है बल्कि इस लिए कि यह फैशन है , सभ्यता के नाम पर पुकारे जाने वाली एक रीति है।

राममोहन व्यापारी वर्ग का प्रतीक पात्र है। रुपये के अलावा दुनिया मे और किसी को महत्त्व नही देता। वह चोर बाजारी कर के लाखो रुपये कमाता है। पकडा जाता है और रुपए के बल पर छूट भी जाता है। वह रुपए का उपयोग धर्मशाला से आगे बढ कर प्रसूति गृह खोलने मे करता है, क्योकि इस मे धर्मशाला बनवाने के यश से कही अधिक ऊँचा प्रतिदिन के उन्नत समाज-सम्पर्क से मिलने वाले ज्यादा सफ़ेद और स्थायी यश मिलने की आशा है। वह पढा-लिखा है तो फिर कुछ तो आगे बढे। इस लिए उस ने शेफाली की सहायता से प्रसूति-गृह खोलने की व्यवस्था की। फिर भी वह अपने बुर्जुआ स्वार्थ से मुक्त नही है। वह स्त्री को भोग की वस्तु, रुपए को यश पाने का साधन मानने वाला व्यक्ति है।

इस उपन्यास मे एक पात्र की बात और कहना चाहता हूँ वह है पहले का क्रातिकारी और निराशा से ग्रस्त अध्यात्मवादी डा० चौधरी। चौधरी क्राति की विकलता को अपने आरोपित अध्यात्म से सन्तुष्ट कर लेता है। वह एकदम विवेकानन्द के अनुयायियो की श्रेणी मे अपने को रखना चाहता है। वह पलायनवादी व्यक्ति है, एकदम भाग्यवादी भी। और उस व्यक्ति के समान जो हार कर, निरुपाय हो कर केवल परलोक की ओर देखता है।

मेरे इस उपन्यास के सारे पात्र आज के समाज की कमजोरी के प्रतीक है। मैं मानता हूँ प्रत्येक व्यक्ति मे जहाँ आगे बढने की कामना है वहाँ वे बहुत सी अपनी कमजोरियो के शिकार भी है। यही आज के समाज का यथार्थवादी चित्र है जो मन की विकृतियो और अपनी बाह्य परिस्थितियो से सघर्ष कर रहा है। वह आदर्शवादी नही हैं। आदर्श उनके सामने हैं, पर वे स्वय अपना आदर्श ढूढना चाहते हैं। न तो इस काम के लिए उन के सामने कोई प्रमाण-शास्त्र है, न कोई सिद्धान्त, इस दृष्टि से उन की प्रगति, उन की विवेचना स्वाभाविक भी है। मैं यथार्थ मे स्वाभाविकता के साथ मनोविश्लेषण शास्त्र की सहायता को स्वीकार करता हूँ और मन की उतरग विकृतियो को प्रदर्शित कर उन के स्वाभाविक उत्थान-पतन को देखना चाहता हूँ। वे अपने नगे रूप मे भी आ सकते थे। अपनी वासना के अनावृत चित्र भी बन सकते थे, जैसा कि कही मिलता है। फिर भी न तो हमारा समाज वैसा अनावृत ही है और न सरलता से वैसे पात्र मिलते ही है। हीरा देई, साधना को वैसा बना सकना आसान था, क्योकि वे उस अवस्था के बिलकुल निकट थी। पर मैं स्वय नग्नवाद मे विश्वास नही करता। उस से हमारा सामाजिक पाठक उस डाक्टर के समान हो जाएगा, जो किसी स्त्री का आपरेशन करते-करते स्वय वासना का शिकार बन जाता है। और रोगी को नीरोग रखने की

अपेक्षा स्वय रोगी हो जाता है। समाज का शिल्पीकरण समाज के हित के लिए होना चाहिए, उसे और भी नीचे गिराने के लिए नही। इस के अलावा आज के जीवन की सारी समस्याएँ प्रेम और उस के विकार ही नही है, और भी हैं जिन्हे देखा जा सकता है। वस्तुत जीवन का सर्वांग रूप हमारा समाज है, उस की आर्थिक स्थितियाँ हैं, उस की वैचारिक विषमताएँ हैं, जिन का विवेचन जीवन के लिए आवश्यक है।

राजनीति ने आज हमारी सामाजिकता को दबोच लिया है। वह अपने प्रभाव से न समाज को मुक्त होने देना चाहती है न व्यक्ति को। मैं मानता हूँ, यदि यह प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा तो मनुष्य स्वय युद्ध की मूर्ति बन जाएगा। बम की तरह विस्फोटक बन कर न केवल अपना ही नाश करेगा वह सम्पूर्ण पृथ्वी को भी नरक बना देगा। इसीलिए इस उपन्यास के सारे पात्रो का चुनाव उस मध्यम वग से किया गया है, जो न तो निम्नवर्ग की तरह नासमझ हैं और न उच्च वग के समाज की तरह सच पूछा जाए तो मध्यवग ही सब से अधिक चिन्तातुर और दु खी है, क्योकि वह दु ख को भी जानता है और सुख को भी समझता है। मेरा यह उपन्यास उसी वर्ग की सीमित अभिव्यक्ति देता है, क्योकि लेखक का सम्बन्ध भी उसी वग से है। कदाचित् अपने से दूसरे की अजान जानकारी उस की ईमानदारी भी न होती।

यह उपन्यास न तो चरित्र-प्रधान है, न घटना-प्रधान। इस मे परिस्थितियो से स्वाभाविक रूप मे विकृत हो उठने वाले आज के समाज का चित्र है जो जीवन मे 'नया मोड' लेना चाहता है।

प्रशतिपञ्चकम्

शास्ता शब्दसहस्राणा, भावाना शरणङ्कर ।
भट्टाभिधो विजयता श्रीमान् उदयशङ्कर ।।
रूपकाना रचयिता, दयिता सत्कथाश्रियाम् ।
भट्टाभिधो विजयता श्रीमान् उदयशङ्कर. ।।
कविर्मनीषी परिभू काव्यात्मा काव्यविग्रह ।
भट्टाभिधो विजयता श्रीमान् उदयशङ्कर· ।।
एकोनसप्ततितमी श्रावणी सुखमागता ।
भट्टाभिधो विजयता श्रीमान् उदयशङ्करः ।।
वन्दित शतश· शिष्टै, इष्टैश्चाऽप्यभिनन्दितः ।
भट्टाभिधो विजयता श्रीमान् उदयशंकर ।।

—नागार्जुनविरचितम्

भट्ट जी की कृतियों की सूची

काव्य—

१	तक्षशिला (खण्ड काव्य)	१९२८
२	राका (कविता सग्रह)	१९३०
३	विसर्जन (कविता सग्रह)	१९३१
४	मानसी (खण्ड काव्य)	१९३३
५	अमृत और विष (कविता सग्रह)	१९४४
६	युगदीप (पूर्वापर) (कविता सग्रह)	१९४४
७	यथार्थ और कल्पना (पूर्वापर कविता सग्रह)	१९४८
८	कौन्तेय कथा (विजय पथ) खण्ड काव्य	१९५०
९	कणिका (मुक्तक सग्रह)	१९६१
१०	इत्यादि (कविता सग्रह)	१९६१
११	अन्तर्मंथन चार चित्र	१९६०
१२	मुझमे जो शेष है	१९६५

नाटक—

१३	विक्रमादित्य (ऐतिहासिक)	१९२९
१४	दाहर अथवा सिंधपतन (ऐतिहासिक)	१९३०
१५	विद्रोहिणी अम्बा (पौराणिक)	१९३१
१६	सगर विजय (पौराणिक)	१९३२
१७	कमला (सामाजिक)	१९३५
१८	अन्तहीन अन्त (सामाजिक)	१९३८
१९	मुक्तिदूत (ऐतिहासिक)	१९४४
२०	शक विजय (ऐतिहासिक)	१९४८
२१	क्रान्तिकारी (राजनीतिक)	१९५३
२२	नया समाज (सामाजिक)	१९५५
२३	अशोक वन बन्दिनी (गीति नाट्य)	१९५८
२४	पार्वती (सामाजिक)	१९५८
२५	एकला चलो रे (पद्य)	१९४८
२६	नहुष-निपात (पौराणिक)	१९६१

एकाकी नाटक—

२७	अभिनय एकाकी	१९३३
२८	विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य	१९३४-३५
२९	आदिम युग और अन्य नाटक	१९३५-३६
३०	स्त्री का हृदय	१९४०
३१	समस्या का अन्त	१९४७
३२	कालिदास (ध्वनि-रूपक)	१९४८
३३	धूमशिखा	१९५०
३४	अंधकार और प्रकाश	१९५२
३५	पर्दे के पीछे	१९५४
३६	आज का आदमी	१९५९
३७	जवानी और छः एकाकी	१९६१
३८	सात प्रहसन	१९६२
३९	नारी के रूप (असुर सुन्दरी) (अप्रकाशित)	१९६२

उपन्यास—

४०	एक नीड दो पंछी	१९४०-४३
४१	नये मोड (डॉ० शेफाली)	१९४८
४२	लोक परलोक	१९५५
४३	शेष-अशेष	१९५८
४४.	सागर, लहरे और मनुष्य	१९५९
४५.	दो अध्याय	१९६२

निबन्ध—

४६	साहित्य के स्वर	१९६१

सम्पादित—

४७	कृष्ण चंद्रिका (गुमानी मिश्र)	१९२३
४८	शकुन्तला (कालिदास)	१९३८
४९.	समस्याएँ और हम (एकाकी)	१९५०
५०	जीवन और संघर्ष	१९५२

सृजन

अपनी इन प्रतिनिधि रचनाओ का चयन भट्ट जी ने स्वय किया है। इन मे से कई ऐसी हैं जो पहली बार इस पुस्तक मे प्रकाशित हो रही है।

जो सत्य है, शिव है, सुन्दर है !

सर्वनाम

उस को, जिस को जिस किसी ने देखा है वह आत्म तृप्त और आनन्द विह्वल होने के कारण कहने, लिखने मे अशक्त है। **जो**, मनुष्य के अटकलो के पहाड पर खडा है, उस के ज्ञान-अज्ञान-सागर मे लहरा रहा है। **उस को**, जो मनुष्य के तर्क की नसैनी से पहुँचने की चेष्टा से दूर है, बहुत दूर। अनुभूतियो की खोडर मे चिडिया के बच्चे की तरह टिमटिमा कर देखता है। वह, अन्धेरे की तरह बिना देखे चल रहा है। समय के सब प्रासादो, कक्षो मे रह कर भी कही नही रहता। **उस को**, जिसे अनन्त कालो की तूलिका आकार नही दे सकी, वाणी अपने अनघड अक्षरों मे बाँध नही सकी। कुशल लेखनी की नोकें जिस के लौह शरीर से टकरा कर लौट आईं या टूट गईं, कल्पना के पख उस तक उड नही सके। जो, समीरणो से साँस लेता है। **जिस** का शरीर असख्य फूलो की सुरभि से निर्मित हुआ है। **जो**, निरभ्र शरद् की चाँदनी का कौषेय पहनता है, बादलो की घोर घुमडन जिस की लटें हैं, बिजली तिलक, अनन्त-सूर्यों की ज्योति जिस के नेत्रो का प्रकाश है। **उस को**, जो दशो दिशाओ के गजो पर एक साथ, एक काल बैठ कर अपनी निस्पृह कामना के अकुश से घडी, पल, विपल, प्रहर, दिन, रात, मास, वष, युग युगान्त की भेडो को हाकता रहता है लहरो से ताल देता है, ऋतुएँ जिस की मूर्छनाएँ है, दक्षिणायन, उत्तरायण उल्कापात अर्धविराम। अणु-अणु का सघटन, विघटन जिस के छद और यति **उस को**।

उस को सृष्टि जिस के जीवन की साँस है, प्रलय जिस का प्राणायाम (श्वासावरोध)। **उस को**, जो जीवन है, मृत्यु है, गति है, विरति है, रूप है, अरूप है, स्थूल है, लघु है, महान् है। जो आस्तिक की विधि और नास्तिक का निषे है। अपग, कृश, दुखी के रोदन मे बोलता है और करुणा की वाणी बनक बुलाता है। जो चिर नवीन और चिर प्राचीन है, पूर्ण है अपूर्ण है। **उस को**, जो मेरे, तुम्हारे, इस के, उस के, सब के भीतर है, सब के बाहर है, गोल है, चौडा है, नष्ट है, नाशक है, अधकार है, प्रकाश है, **जो** मानव मे काम है, कामना है, क्रिया है, कृत्य है, कृति है। **उस को**, जिस की एक आँख मे पालन,

दूसरी मे सहार, तीसरी मे क्षमा, दया, करुणा, विस्मय की लहरें उठा करती है, चौथी मे समता, जीने का विश्वास, पाँचवी मे आशा निराशा के द्वन्द्व। वह निरक्ष है, सहस्राक्ष, अनन्त है, अविभाज्य है, अज्ञेय है, अतर्क्य है उस को।

जो, मैं हूँ, तू है, वह है, उस को। जो सृष्टि की षष्ठि विभक्ति है। आधार, आधेय, आधृत हो कर भी सर्वस्थूल है, सर्वात्मा है। आदेश, आगम, अनुदेश-निदेश है। उस को, जिस के सम्बन्ध मे मैं कुछ नही जानता केवल अनुभव-गम्य मानता हूँ। जो सत्य है, शिव है और सर्वसुन्दर है। उस को, चेतना मे सर्वात्मना प्रणाम।

काव्य

वीणा वादिनि हे !

हे कुन्देन्दु-धवल कल-वदने, कला प्रसादिनि हे,

रस आल्हादिनि हे,
वीणा वादिनि हे !

जयतु जनस्मय वन्दित चरणे, शब्द, अर्थ, ध्वनि, रस आभरणे,

प्रणव निनादिनि हे,
वीणा वादिनि हे !

कन्याकुमारी का सूर्योदय और सूर्यास्त

सूर्योदय

सुबह हुई, सुबह हुई !
सुनील आसमान का कटाह-कोण जल उठा,
सुदूर दूर पूव मे अमन्द धार केसरी कुसुभ की छलक चली !
पिघल चली सुवर्ण-राशि, राशि-राशि अग्निमाल,
पीत लाल रेख ले, नवीन रक्तमेख ले,
मशाल सी जली अनेक रूप-रग अग-अग मे भरे,
विशाल नील भाल पर समुद्र के तिलक धरे।

इसी समय जगा क्षितिज, जगमगा उठा क्षितिज,
कलश भरे सुवर्ण का समुद्र की परी चली
सुदूर सिन्धु-कोण मे—
समुद्र आसमान के नवीन राग शोण मे,
पिघल उठी किरण-किरण।
समुद्र पर धरे चरण चमक गई अनल घटा,
सजल छटा, रक्त-अश्व की सटा,
सतह-सतह समुद्र की उमग से तरग से भरी, भरी,
नाचने लगी किरण-परी ऊर्मि सुन्दरी।

चहक उठा गगन, महक उठी पवन,
अनन्त बल, अनन्त जल,
अनन्त स्वर्ण-कण बिछे अनन्त धार बन।
गगन मगन, दिशा मगन,
उछल पडी पवन मचल प्रवेग से भरी,
ऊर्मि निझरी, गर्जना-करी !

तभी मुझे लगा कि सूर्य स्वर्ण की लिए कशा
जगा रहा समुद्र को—
कि जो निशा-तिमिर गरल पिये पडा, लडा किया,
हहर-हहर प्रबुद्ध धूम धुंध से, अगुरु नदी अमन्द से।
उठे-उठे नये-नये रजत शिखर बिखर,
मुकुट धरे कही नवीन स्वरण के प्रखर
अदूर दृष्टि पथ हरी भरी ज़मीन सी,
सुदूर पर सतह घनी बनी नवीन सी,
अपार तोय-राशि पर अनन्त हास था,
स्फटिक का विलास था,
अनन्त रश्मि पुज का नया विकास था।

विमुग्ध मै हुआ, अभान चेतना हुई,
चमक उठी असख्य मेख-खड की रुई।
वह अपूर्व सुख, असीम, अद्वितीय रूप,
रोम-रोम मे भरा, मुखर हृदय, अवाक् पर गिरा,
होश नाचने लगे, तरग अग-अग मे,
मान खो चला हृदय, समुद्र की उमग मे।
इसी तरह सिंगारती, सँवारती उषा,
समुद्र की तरग को पखारती उषा,
सहस्र प्रेम-दीप सिन्धु नृत्य पर जला,
विशाल सिन्धु-वक्ष पर लिखे नई कला,
असख्य रश्मि बिम्ब झाग चूमने लगे,
इधर हँसे, उधर उडे कि घूमने लगे,
खेल खेलता गगन समुद्र से यही
देखती सदा सहस्र चक्षु से मही।
अनादि काल से समुद्र देखता उदय,
अनादि काल से उषा उडेलती हृदय,
अनादि काल से तरग रग मे भरी,
नाचती अभग पद समुद्र सुन्दरी।

सूर्यास्त

और साँझ फिर बटोर एक-एक कण
स्वर्ण के, सुवर्ण के प्रकाश आभरण।

चली सुवरण-पेटिका भरे दिशान्त मे,
कही सुदूर प्रान्त मे ।
सूय हो गया सफेद, पीत आसमान,
खून सा पिघल उठा,
और पीत बन उठा पीत सा निशान ।
गोल गोल गेद जल उठी, दिशा मचल उठी,
पश्चिमाभिमुख गगन लाल, पीत, श्वेत तन
अनन्त धार बन बहा, कही नदी, कही गुहा,
कही मनुष्य चित्र ही रहा, महान् पट गगन !

असीम कल्पना सुमन, आसमान मे नवीन सृष्टियाँ बनी,
कल्पना सशक्त प्राण भावना बनी ।
अजल अमल नवल प्रखर मेघखड खड,
कही जुडे, कही उडे, कही मुडे पवन पिये प्रचड ।
इधर समुद्र पर किरन लहर हुई रजत वरन,
चाँदनी बिछी, दिशा समुद्र पर तनी,
सुदूर तक मराल पक्ति बक कतार सी चली लहर ।
और दीखने लगे पहाड, झाग की कतार बाँध,
असख्य बक, शशक तरग के
दौडने लगे, बाँध तोडने लगे
तट हटे, लहर कटे,
उछल-उछल भिगो दिया जमीन का हिया ।

सतह पर समीर हो अधीर ऊर्मि-वक्ष चीर दौडने लगा ।
होड हो गई तरग की तरग से, उमग की उमग से,
जल विभोर हो गई चटान, तट निमग्न फेन आसमान,
दूध-दूध हो गया, समुद्र रूप सो गया,
हुआ सभी विवरण क्योकि छिन गया सुवरण !

रोष से भरा समुद्र आसमान तक,
दहाडता, चिंघाडता, विरोध मे धधक,
वियोग की कसक, तोड श्रृखला उडा समुद्र भी अथक ।
बाँध अजली छिपा सूय भी उधर,

हीन तेज पर सुघर, गोल स्वर्ण भाल सा
छिप गया दिशान्त मे शनै शनै ।
शनै शनै तिमिर उगल लिपट गई निशा
बलिष्ठ बाहु मे समेट चूमती लहर,
बिखर सुवेणियाँ गईं या कि यामिनी कई आ गई नई
रोम रोम अधकार फूट पडा आर पार,
मौन थे दिशा प्रहर, अशान्त पर समुद्र की लहर !

कवि

मै ही एक पथचारी,
अनादि से अन्त तक,
तुम को पुकारता हूँ, तुम को सँवारता ।
आगत के भयभरे पर्वत तरु-रोओ ने,
धडकती हुई धरती की दरकती दरारो ने,
उँमगते हुई सागर की उछलती नभ लहरो ने
वर्षा ने, आँधी ने, दुनिया की व्याधि ने,
और महाकाल की साँसो की आग से—
जलते श्मशानो ने, उजडती समाधि न
मेरा निर्माण किया, मै ही वह पथचारी
मै ही वह पथचारी,
सूरज की किरणो ने—
बयारो को चूम कर,
चाँद की महफिल मे
तारो ने झूम कर,
बिजली ने लरज कर,
मेघो ने गरज कर,
फूलो ने सुगन्ध से,
वासन्ती छन्द से,
मेरा निर्माण किया ,
मैं ही एक पथचारी ।

जीवन की सुगन्ध मे बसन्त की बयार सा,
धरती की गन्ध से उमडती पुकार सा,
सुधा के सरोवर मे जीवन के कमल की मस्त-
सुरभि का अमन्द छद गाता चला आता हूँ ।
मै ही एक पथचारी ।

साहस की, आशा की, कलम से कुछ बार-बार,
श्रद्धा के रस मे बोर हृदय की तख्ती पर,
पुरुष का अलिखित भाग्य लिखता बनाता हू ।
हृदय से अनागत का सशय भय दूर कर,
स्वर्ग की मशाल मैं सृष्टि मे जलाता हूँ ।
मै ही एक पथचारी ।

मै हूँ कवि ममवित रवि सी अदम्य शक्ति,
मृत्यु का विषम भय पी कर अकेला खडा ,
मौत के जहर से जले मानव को, मानव को—
अमृत का अखण्ड रस जीवन पिलाता हूँ ।
नाश के कगार खडे तुम को पुकारता हूँ—
मै ही एक पथचारी ।

मेरा स्वर मृत्युजय, मेरी जय जीवन जय,
अनाहत अपृष्ट किन्तु नीलकण्ठ अपराजित,
झरती हुई ज्वालाएँ विष, अपमान की,
पी कर भी जीता हूँ तुम को पुकारता हूँ ।
अपने मे रहता हूँ, अनकहा कहता हूँ—
भाषा, जाति, वर्ण भेद कृत्रिम की आड है,
देशो की सीमा सकीर्णता की बाड है,
चुभती जो दोनो को, आड नही सत्य है,
बाड भी असत्य है ।

सब के सुख एक है,
सब के दुख एक है ?
गाएँ सब देशो की क्षीर ही देती हैं,
नदियाँ सब देशो की नीर ही देती है,
रोना और हँसना भी एक सम होता है,
दया और प्रेम का हृदय एक सोता है ।
एक सा चेतन है, एक तन केतन है,
मैं ही एक पथचारी ।

देश के विदेश के सभी कवियो का गीत,
जीवन की प्रकृति की सभी छवियो का गीत,
युग से, युगान्त से, दिशा से, दिगन्त से—

गाता चला आया हूँ, गाता चला जा रहा हू।
गाता ही रहता हूँ, क्योकि मैं कवि हूँ,
बिखेरता ही रहता ज्योति क्योकि मे रवि हूँ।
मैं ही एक पथचारी।
अनादि से अनन्त तक।
जीवन की विषमग्रथी खोलता ही आया हूँ,
प्राणो की जीत-हार, परिस्थिति की तराजू पर—
शब्दो के बाट से तोलता ही आया हूँ।
सुनते नही फिर भी मे, गुनते नही फिर भी मैं—
सुनाता ही रहता हूँ।
मैं ही एक पथचारी,
मैं ही एक पथचारी।

अपने ही चेतन मे शुद्ध मन, शुद्ध तन,
स्वर के प्रदीप रथ सजाता ही रहता हूँ।
सागर के गर्जन मे,
पूरब की हवाओ मे,
हिमालय के स्वप्नो मे,
गुफाओ की गूजो मे,
नदियो की कलकल मे,
जीवन का समुद्र फेन—
लिखता है जो भी कुछ, कहता है जो भी कुछ,
वही वही—
शब्दो मे, अर्थों मे, भावो मे,
ध्वनियो, रसो मे, रूप सुन्दर की वाणी मे,
पाता जो रहता हूँ गाता ही रहता हूँ।
मैं ही एक पथचारी।
मैं ही एक पथचारी आदि से अनन्त तक।

युग पुरुष से

(ये पक्तियाँ गुजरात काठियावाड के प्रभास क्षेत्र मे स्थित त्रिवेणी तट पर बैठ कर लिखी गई हैं जहाँ अपने युग के अद्वितीय महापुरुष भगवान् कृष्ण ने देहोत्सग किया था। पूर्वाभिमुख इस घाट के उत्तर से छोटी सी त्रिवेणी नदी बह रही है और दक्षिण की ओर से समुद्र का जल आ कर उस एकान्त निर्जन प्रदेश को आस्फलित करता रहता है। आज उस स्थान पर, जहाँ भगवान् ने देह-त्याग किया था, छोटा-सा एक पीपल का पेड लगा दिया गया है।)

हे चिर अभिनव सत्य चिरन्तन,
आकुल जन-किंजल्क तुम्हारी देखी—
देहोत्सग त्रिवेणी तट की भूमि,
जहाँ पर तुमने,
ज्वलन-प्रभा प्रभास तीर्थ पर,
सागर क्षालित पुण्यतटी पर—
मुक्त गगन मे—
मुक्त पवन मे—
नील गगन तन त्याग किया था—
पाँच सहस्र पूव इस भू पर,
प्रभापुंज ज्योतिष्क बिखर कर,
आलोकित कर भूमण्डल को—
हे आखण्डल,
स्वय ज्योति मे लीन हो गया।

हे श्रीकृष्ण,
आज उस भूपर दूर-दूर तक कही तुम्हारा—
पार्थिव तन अवशेष नही है,
वह जन-रव भी शेष नही है,
खग कलरव का लेश नही है,
परम्परा से चलने वाली मानव श्रुति भी आज नही है।

गगन मूक है, दिन हँसता है—
और बालरवि किरण करो से मौन प्रणाम किया करता है,
और चली जाती है सन्ध्या जाने क्या कुछ गुनती मन मे—
अस्ताचल को नित्य नियम से,
नित्य नियम से रजनी आती—
भस्म चढाती मौन मूक-सी,
कर्बुर केशो मे ललाट पर।
पावस आता अर्घ्य चढाने,
गर्मी आती तुम्हे मनाने,
सर्दी रोती बैठ सिरहाने,
आती सागर लहर गरजती—
रोष भरी सी केवल पूनम की रातो मे,
और चले जाते है सब ये—
युग-युग से श्रद्धा बिखेरते,
वार चुका है एक-एक कण प्रहरी पवन गगन जल थल को,
मास, वर्ष को एक एक कण,
शेष नही है पार्थिव तन कण,
किन्तु अपार्थिव रूप तुम्हारा,
शब्द तुम्हारे, अर्थ तुम्हारे
कर्म तुम्हारे, ज्ञान तुम्हारा, देय तुम्हारा
सब कुछ रोम-रोम मे जग के—
यश शरीरी, हास्य तुम्हारा—
लास्य तुम्हारा—
गोपीजनवल्लभ पदपल्लव,
प्राणो मे अधिवास तुम्हारा,
अब भी कण-कण मे व्यापक है।

आज त्रिवेणी तट पार्थिव कण
जल मे, थल मे, गगन पवन मे,
ओज तेज मे लीन हो गए
और कर गए भूमण्डल को—
क्रिया-रीति से पूर्ण परम ज्योतिष्क चिरन्तन ?

केलि कलित शैशव को तुमने—
छवि यौवन को, रति जीवन को,
गति प्राणो को, मति चिन्तन को,

प्रगति परम पुरुषार्थ चरम को—
दिया सभी को सब कुछ तुमने ?

काव्य पुरुष रसराज, शब्द थे सार्थक तुमसे,
चिर अनुभूति, प्रेरणा सार्थक,
भाव ध्वनित परिपूर्ण परम गति,
छन्द नृत्य करते पद की यति,
तुम से भक्ति अनुप्राणित है,
तुम से श्रद्धा अनुजीवित है,
तर्क प्रमाणित है इगित पर,
ज्ञान उदधि मे प्रबल वीचि से,
हे अनुरक्ति शक्ति के गायक !

× × ×

आज खडा तट पर मेरा कवि देख रहा है,
देख रहा है प्रबल काल के पखो पर चढ
युग की सीमाएँ लघन कर,
दूर क्षितिज तक फैल रहा है,
सागर की प्रत्येक लहर मे,
पृथ्वी के कण-कण मे, जन मे,
पावन यश शरीर तुम्हारा,
केशव !

और आज यह ! जीवन की सघर्ष ज्वाल मे दग्ध निरन्तर—
विश्व महामानव का चिन्तन—
मनन, ज्वलन, उपहास बन रहा,
खोज नही पाता सुख सौरभ—
और प्राण की शान्ति चिरन्तन,
जो कुछ गाया था गीता मे,
हम ही दूर हुए है उस से,
या कुछ तुम ही दूर हो गए !
मानव का विश्लेषण क्षण क्षण
नई दृष्टि से देख रहा है—
जन को, जीवन को, औ' मन को ।
आज काल के हाथ सूर्य की नई लेखनी ले—
किरणो की नोकों से लिखते है जन की बातें, औ' प्रतिघातें—

राजनीति के नए पृष्ठ पर,
परिभाषाए जिस की हे केशव, नई नई है,
कई कई हैं,
नई नई टीका टिप्पणियाँ
नए अर्थ आश्लेष,
व्यग्य सविशेष,
आज चतुरता, मेघा जन की,
निज स्वार्थ से प्रेरित होकर,
सजग खेलती खेल,
और करती मिथ्या को सत्य,
सत्य को झूठ बनाती,
बहकाती है सारे जग को,

मै हैरान देखता हूँ सब—
कैसी यह व्याख्या भावो की,
कैसा तर्क विश्व मानव का,
नए नए शब्दो वाक्यो की गुह्य शृखला—
बाँध रही मानव-मस्तक को,
प्राण व्यापिनी आशका से,
जिसमे मानव की भगुरता—
बढती जाती शकाकुल करती चिन्तन को,
यन्त्रो की खट खट, ठक-ठक से—
'मोबिल आयल', 'पैट्रोल' के सतत वाष्प से—
जल-थल, गगन, पवन, लोको को,
मानव को, उस के चिन्तन को,
शकाकुल करती रहती है।

सब भौतिक-विज्ञान प्रकृति उपहार,
नाश का करते हैं शृगार,
नाश का सृजन, नाश का भरण,
यदपि पोषण, याकि यह कहूँ—
इस अमूल्य मानव की मृत्यु,
चीटी का सा खेल हो गया,
जैसे एक मजाक हो गया,
चलते-चलते गिरा मर गया,
बैठे-बैठे उठा मर गया—

वायुयान मे, रेल, बसों मे,
जलयानो मे, दुघटनाएँ,
मृत्यु हमारा खेल हो गई,
खेल हो गई मृत्यु यहाँ पर,
खेल हो गया मरना जीना।
बदल रहा मानव, परिभाषा बदल रही है—
आज सत्य की और झूठ की,
विजय-पराजय, शत्रु-मित्र की,
जैसे यह सब हल्की हल्की कच्चे डोरे सी गाँठें है।

देख रहे तुम,
कितना आगे बढ आए हम ?
तुम ने एक युद्ध देखा था,
जोकि सत्य की और धम की
जय के लिए लडा था तुमने,
मर्यादा के लिए, ध्येय के लिए लडा था,
जी कर सुख के लिए, मोक्ष के लिए लडा था,
परम्परा यह आज बन गया युद्ध हमारे मन वाणी का, व्यक्ति, देश का,
हर इच्छा के और स्वाथ के व्याघातो पर !
और आज है युद्ध पेट के लिए, वस्त्र के लिए,
भूमि के लिए निरन्तर !

तुम चलते थे—
दौड रहे हम, उडते भी हैं पार कर रहे सागर, सरिता, पवत, मरुस्थल,
सब कुछ है भौतिक सुख सब कुछ, पर वैसा—
सन्तोष नही है, मन अस्थिर परितोष नही है,
जैसे चलना ही जीवन है,
चल कर मरना ही जीवन है,
रोटी कपडा ही जीवन है,
सोते हैं इसलिए कि चलना थकने पर दूभर होता है,
जगते हैं इसलिए कि चलना जीने को आवश्यक होता,
खाते हैं इसलिए उपाजन और कर सके,
पेट भर सके, भोग सके भोगो को जीभर,
चिल्लाता है पेट जगत का, महा राक्षसी भूख ज्वलित है,
हँसती है बेबसी, क्षमा का और सत्य का मुण्ड पलित है,
जीना चाह रहे हैं फिर भी, केवल वतमान जीवन है,

पीछे को किसने देखा है, आगे को किसने जाना है,
जीते रहना है जाते हैं,
जीते हैं ज्वालाएँ पी कर हम अभाव की, किन्तु मोह है दृढ जीवन से,
नही जानते और मोक्ष क्या,
और धर्म क्या,
और कर्म क्या,
यही आज साहित्य हमारा—
उच्छृखल यौवन रस पी लें,
यही आज है ध्येय हमारा—
जैसे भी हो जीएँ, जी ले,
वही आज है धर्म हमारा—
छीने, जितना छीन सके हम ?
बढना चाह रहे है फिर भी,
जीना चाह रहे है फिर भी,
है उद्देश्य हमारा उन्नत,
टूट गई भौगोलिक सीमा,
टुकडे टुकडे काल हो गया,
शत्रु-मित्र केवल विचार हैं,
ईश्वर परमेश्वर विचार है,

देख रहे तुम—
कितना आगे बढ आए हम ?
मानवता की चीख गगन तक जितनी जाती—
उतनी ही हत्या होती है, उतना ही जीवन बढता है,
जितना ही रोगी रोता है उतना वैद्य महाशावादी,
सब कुछ बदल गया है अब तो,
निकल गया है काल सरित जल—
अगणित जीवन की धाराएँ चिन्तन, वेश, वसन, भोजन की
गगा-सागर मे जा डूबी,
अब न जान पाओगे हम को देखो आकर एक बार फिर
कितना आगे बढ आए हम, कितने पीछे चले गए तुम ?

आखिरी शाम

बढने दो बढने दो,
छोडो यह कुतर्क मित्र,
पुस्तक है जीवन की
केवल तुम्हारे लिए,
तुम को समर्पित कर
जाना चाहता हूँ अब,
आखिरी शाम है सूर्य जुआ हार कर—
लौटा जा रहा है, मौन ।

एक बात, एक बात,
पुस्तक मे भरी हुई सगति, विसगतियाँ,
निबलता, नैष्कर्म्य—
बीजो से फूटे हैं द्रोह के त्रिशूल फूल,
फूलो मे फलो की पाँत,
आँतो से खून के सीची गई कलियाँ,
पढने दो पठनीय वे भी हैं ।

मनोगिरी शिखरो पर अनचाहे उगे हुए
बनो और झाडियो मे सोते जो—
कर्मसिह
कामना के पजो से खरोच कर,
खोद कर,
पीते रहे खून जो मेरा ही, मेरा ही,
जीते रहे रात पी, दिन पी अनन्त काल,
उन विष झाडियो मे मेरा यह सप-दर्प,
कुचला गया, मसला गया, घुटा फिर जी उठा,
फैला कर 'अह' का फन,
रक्तबीज सा कराल ।

किन्तु जब डूबा यह कला के कुन्द सौरभ मे
जनता की कामना के अबाधगति स्पद मे,
क्रीडित प्रपीडित हो जीवित अनुजीवित हो।
धडकन भर शक्तिमयी प्रेरणा के स्रोत मे
तभी वह शैली बन, शक्ति बन, दीप्ति बन,
तृप्ति बन, सिद्धि बन आकर मुसका गया।
आज पढता हूँ सब जीवन की पुस्तक मे
झूठ पर निशान और चोरी के वाक्यो मे,
तस्कर व्यापार पर एक अध्याय है।
रूप और आकृति पर फिसला हुआ मेरा मन—
ज्ञान-गव-पीठ पर अब भी सवार है।

रात की आँख का काजल पिए हुए
मेरे अभ्यस्त कर्म मुझ पर ही हँसते है,
यद्यपि मैं उनमे आज स्वय ही डरता हूँ।
चाहता हू होते वे न, होते कुछ और ही।

पढने दो पढने दो, शेष है अभी कुछ क्षण,
शेष है अभी भी शाम,
सूर्य जुआ हार कर लौटने लगा है मौन।

अशेष वह मेरा है

शैशव मे, यौवन मे, पहने पट शनै शनै
माया के, मोह के, काम और क्रोध के,
मान-अपमान के, यश के और रूप के,
(वे सभी सस्कार, अविचार औ' विचार)
साँप की केंचुल से,
फलो पर छिलके से,
उतर गए हैं अब,
कुतर गए है अब चूहे दिन रात के।
आज मैं नगा हूँ ?
उमगो की गगा मे बहता रहा हूँ मै,
स्वय को सहस्र-मुख कहता रहा हूँ मै,
द्वेष के सापो से डसा भी गया हूँ मैं,
दिशाहीन,
दृष्टिहीन उद्भ्रान्त पक्षी सा,
गर्मी मे बगूले सा आँचल अलक्ष्य का—
जोर से पकडा रहा
उडता रहा फिर-फिर
भू पर न ठहरा मै,
अनपाई चाहो से जुडता रहा हूँ मै।
अमावस के मेघो के अँधेरे सा फैला मैं,
मिथ्या विश्वास के शिखरो सा मैला मैं,
उठा, उठा,
गिरा, गिरा,
वादो से घिरा-घिरा,
किन्तु,
आत्म-सत्य से आलोकित भूत मन
उद्भूत हो उठा,
हो उठा अगुरू धूम।

पर्वत से लुढके को बीच मे बचा लिया,
इसलिए आज तक जीवित हूँ,
जीवित हूँ ।
अपने ही जाले को मकडी ने खा लिया,
कछुए ने अगो को अगो मे समा लिया ।
आज सब बाहर का,
ऊपर का नीचे का ।
दूर का,
पास का,
दिशा का
दिशा त का,
कोई प्राप्य पास नही,
फिर भी उदास नही,
अब भी मै अवस्त्र नही,
अब भी मे अनग नही,
तो भी मै नगा हूँ ।
नश्वर कुसुम नही,
सुरभि की गगा हूँ ।
कोई भी ईहा नही, आत्मदृप्त, तृप्त हूँ ।
जो हूँ वह, मैं ही हूँ,
मझ मे जो शेष है, अवशेष वह मेरा है ।

दफ्तर का बाबू

नौ बजते-बजते चल देता है—
आधा, पौना पेट भरा यह—
प्राण समेटे,
हाड जुडाये—
छतरी, झोला, फायल भूषित,
नगे सिर,
गाधी टोपी या पगडी बाँधे,
तैल सिक्त मुख,
चपटा, पिचका,
मैल, धूलि धूत
फण टोप सा टोप लगाये,
लपझप लपझप,
धूल उडाता,
यह सरकारी क्लर्क नौ बजे,

उडी हुई छत्ते से मक्खी झुंड बाँधकर,
उमड-उमड कर,
फैल गई ज्यो,
सडको,
गलियो,
पगडडी पर,
फुटपाथो पर,
साइकिल से पैदल ही या,

क्रीज़-हीन पतलून,
निकर या—
ढीला ढाला चुस्त पजामा,
चपली मडित,
एक लक्ष्य ले—

एक दिशा ले—
कागज की सज्जित फायल-सा,
चला जा रहा—
उडा जा रहा—
बहा जा रहा नद-नदियो के एक महा सगम दफ्तर को,
नौ बजते बजते जीवन के,

× × ×

कुछ हँसते, कुछ नव प्रसून से,
बलशाली भी सुन्दर सुन्दर,
किन्तु अधिकतर पीले,
मरियल,
सूखे, सूखे,

फायल के घर,
केवल जिन के स्वप्न सुनहले,
केवल पहली तिथि को हँसते,
जिन के मस्तक मे चिन्ता है,
जिन के मस्तक मे फायल है,
जिन के मस्तक मे 'साहब' है,
पिचके मुँह, कुछ लम्बे लम्बे,
कुछ पतले,
कुछ हलके निबल,
कुछ मोटे, बेडौल, विकृत-मन,
दुर्निवार सरकारी नौकर,
चिन्ता मुद्रित,
जडित प्रगति पथ,
दम्भ-भाग्य के,
सन्ध्या के सहमे प्रकाश से,
मुक्त हास से हँस न सके जो,
मुक्त हाथ से दे न सके जो,
मुक्तानन से रो न सके जो,
भाव अभाव,
मरण जीवन के—
मध्य—
सीक पत्नी-व्रत पालक,

(प्रति नव मास सृजन-वरदायिनि,
चार गोल मे,
दो कन्धो पर,
एक उदर मे,
करती रहती वहन भार जो,
निज प्रियतम का,
बहु सतति ले,)
जीवन से छल करता चलता,
नौ बजते-बजते चल देता,
दफ्तर का यह बाबू केवल,

अरबो जमा खर्च करता है।
दस से पाँच बजे तक बैठा,
टिप् टिप् करता,
कलम घिसाता,
'सैट अप' करता,
सरकारी प्रासाद—ईटे यह,
साहब के हँसने पर हँसता,
सहमा, सहमा, डरता, डरता,
फायल पर फायल सरकाता,

खाने को जिस के है केवल,
चेतावनी झिडकी, औ' धमकी,
पीने को अपमान—
महा-सन्मान,
लच पानी से करता,
या कि चाय या छोले, आलू,
कुलचे, बिस्कुट—
बासी खा कर,
भर लेता है उदर दरी को,
और बुझाता उदर अग्नि है
'रथ' की बनी मिठाई खा कर,
वह भी प्रतिदिन नही,
और फिर,
एक उसी रट मे घिस पिट कर,
बार बार कहता रहता है—

'आज मुझे जल्दी जाना है,
बच्चो के कपडे लाने हैं,
बीवी भी बीमार पडी है,
बडी मुसीबत घडी घडी है,

'क्यू, भी एक मुसीबत है यह,
बडा तग हूँ,
कोयला है तो नाज नही है,
चावल, गेहूँ, शकर नही है,
वेतन पन्द्रह दिन चलता है,
धोती हर महिने फट जाती ,

बच्चे है कि मुसीबत—
कपडे प्रति दिन नये फाड देते हैं ,
देना भाई एक नोट दस का तो दे दो,
लौटा दूगा इस पहली को,

'किन्तु अभी तो पहला ही बाकी है तुम पर'—
'वह भी दूगा,
सोच रहा हूँ नही नही, निश्चय है यह तो,
भेज रहा हूँ मैके उस को,
शायद कुछ बच जाय,
हाथ आ जाए, और टल जाए मुसीबत हस्पताल की ,
बहुत तग हूँ सचमुच भाई, बडा तग हूँ ,
लाओ दे दो, लौटा दूगा,

जरा जा रहा हूँ मैं बाहर—
साहब पूछे तो कह देना—
अभी गया है पानी पीने—
एक मित्र आ गया उसी से बात कर रहा है वह बाहर ,

× × ×

लाओ दे दो लौटा दूगा ,
पाँच अभी बजने वाले हैं
यह फायल कल होगी पूरी,
समय नही है—
पाँच अभी बजने वाले हैं,

टालमटोल किया करता है,
फिर हुजूम चल देता घर को,
उसी ध्यान मे,
नौ बजते-बजते जो आया ,

यह बोलेगा तो अंग्रेज़ी,
घर मे—
मित्रो से—
पत्नी से—
और क्रुद्ध हो कर बच्चो से—
लडता है तो अँग्रेजी मे—
शुद्ध ज्ञान से बहुत दूर है,
ज्ञान अधूरा, वेश अधूरा,
क्रिया अधूरी, इस का अपना वेश नही है,
जीने का सदेश नही है,

यह खडहर अँग्रेज राज का,
केवल सरकारी पुर्जा है,
अपना कुछ भी नही—

भूख है, बच्चे हैं, पत्नी है केवल ?
है यह वर्ग घिसटता चलता,
लगडाता ठोकर खाता है ,
निर्बल कधो पर ढो-ढो कर,

नित कागज के नए ताजिये

जिस पर यह सरकार खडी है,
न्याय पताका लहरित, शोभित,

और उसी के कन्धे पर तो—

दो सहस्र का, ढाई का भी,
और तीन का—
श्मश्रु विमुडित,
टाई कालर, कोट, बूट, पतलून,
चुरुट युत,
गर्व युक्त,

अधिकार मिश्र,
'साहब' बैठा है ,
जो मिल सकता नहीं किसी से,
साधारण मानव से जिस को—
हँसना, करना बात मना है,
पैदल चलना जिसे मना है,
केवल उस का निज समाज है—
अमलतास सा लम्बा, सुन्दर ,

× × ×

आँख पसारे घिसा घिसा यह—
देख रहा है,
देख रहा है वही हवा है,
देख रहा है वही चाल है,
बिछा हुआ मछलीमारों का—
वही पुराना नया जाल है ,

वैदेही

इस लघु-काव्य कथा मे सीता के अन्तर्मंथन का चित्र है, जिस मे दूसरे बनवास के समय ऋषि वाल्मीकि के अनुरोध पर वह अपने पति के पास जाने को उद्यत हुई। स्वय राम यज्ञ के पश्चात् ऋषि, मुनि, नगरवासियो के आग्रह पर सीता को स्वीकार करने के लिए उन के लौटने की प्रतीक्षा मे उत्सुक थे। किन्तु 'किन्तु' से जुडा हुआ वाक्य क्या पूरा हो सका ?

—'घटित हो रही आज अकल्पित कामना,
सुनती हूँ जो नई नई सी बात यह—
पिता कह रहे वाल्मीकि 'बेटी सुनो—
व्यग्र राम हैं पुन स्वीकरण के लिए,
तुम पवित्र हो गगा सम निमल, अमल,
साक्षी पावक, पवन, वरुण दिनमणि अरुण,
साक्षी तारक, चन्द्र, कालवलयित धरा।

है अशोक साक्षी लतिकाएँ, वृक्ष, वन,
साक्षी रावण वाक्य बाण सम तीक्ष्णतर।
साक्षी है वे पल, पलाँश, घटिका, प्रहर,
जिन मे शोकोच्छ्वसित श्वास बहते चले।

तुम पवित्र हो वेद वाक्य सम, धर्म सम,
तुम पवित्र हो दुर्वा सी कुशशेमुषी।
था मिथ्या अपवाद तर्कनातीत मति,
जिसने तुमको किया विनिर्वासित असित।

आज सभी जन आतप्राण रोते दुखित,
मान रहे हैं तुमको पावन राम सम।
अनुमोदित ऋषि मुनि, नर नागर, बन्धु से,
तुम्हे ग्रहण करने को आतुर राम हैं।

पत्नीव्रत का साक्ष्य और क्या चाहिए—
किया स्वर्ण सीता को ले मख राम ने,
और आज भी सीतामय राघव विभव
तथा अहर्निशि सीता सुधि कृशगात हैं।

वातहीन घन दल सी आकृति शान्त पर—
जलती विद्युत की मन मे चिनगारियाँ,
मौन, पुष्प मकरद सदृश मद स्मय कभी,
ओठो तक आ कर लय होता दाह मे।

भूल गए वे निर्वासित कर के तुम्हे—
सब आमोद-विनोद, राग-अनुराग सुख,
भूल गए आनन्द कल्पतरु कुसुम का—
हृदय विनोदी जीवन आसव पान भी।

एक तन्त्र सम वज्रदेह, कर्त्तव्य दृढ,
राम वासना हीन प्रजाजन हित प्रकृत।
चलो, बिछाए आस, हृदय आकाक्षा,
तुम से मिलने को आतुर श्रीराम हैं।'

क्या सचमुच यह सत्य, पिता ने जो कहा—
क्या सचमुच यह जीवन स्वर्ण विहान नव ?
मुझ को यह वृतान्त वन्द्य है सुखद, शुचि,
कौन पुण्यफल इस से सुन्दरतम अधिक,
नारी कौन न पति का सगम चाहती ?

मिलन प्राण है, मिलन विश्व की कामना,
मिलन चेतना का उज्ज्वलतम योग है।

यह मुहूर्त है काल चक्र के केन्द्र का—
आ मिलते हैं जहाँ बहुत ग्रह एक गृह।
इसी समय के लिए काव्य जीवल हो—
शब्द, अर्थ, रस, भाव सभी की शक्ति ले—
मिलन प्राण की बाँधा करते भूमिका,
और सृजन को करते सफल समग्र रस।

यह पावन अनुभूति आत्मा की अकृश
काव्यो मे समूर्त्त भर देती प्राण बल।

यह अणु अणु मे व्याप्त समर्पण भावना,
राग यही है सृष्टि मूल कर्तृत्व का ।

ध्येय यही है जड चेतन के मूल मे—
गेय यही है पिण्ड पिण्ड ब्रह्माण्ड मे—
होते रहना एक दूसरे मे विलय,
और स्फूर्तिमय करते रहना विश्व को ।

फिर वह अभिनव समय आज फिर आ गया—
स्नेह-सूत्र मे जिस ने बाँधा था प्रथम ।
वे क्षण कितने सुन्दर थे अनुकूल गति,
वे क्षण मुझ को भुज पसार आ कर मिले ।

दो भाइयो का मिलन, प्राण दो का मिलन,
दो उमग के स्रोत मिले जीवन सरित ।

शब्द शब्द मे व्याप्त अनक्षर अर्थ सम,
वाणी से कर्तृत्व मिला हो जिस तरह ।
एक हुए हम फूलो मे सौरभ सदृश,
ज्ञान क्रिया सम एक हुई मैं राम मे—
दो चिन्तन मे एक सुनिश्चित कर्म सी ।

किन्तु चरम विश्वास श्वास से हिल रहे,
काँप रहे क्यो ज्ञान, प्रेम, झझा स्खलित,
हर्ष वृक्ष का मूल खोखला सा हुआ,
समझ नही पाती मैं अपना ही हृदय ।

मैं अभाग्य की ध्वजा, विरह की साधना,
जिस का जीवन चरम विरह के हित बना ।
जैसे कोई लौहधातु करके गरम—
कूट-कूट कर शीतल जल मे डाल कर—
पुन अग्नि मे गला रहा हो इस तरह—
दुरभिसधि मैं बनी अभागिन दैव की ।

एक कदर्थित कर्म अचाहा हो गया,
जिस मे मेरे दुस्वप्नो का भी न स्वर,
यही असभावित घटना का घटन था ।
निरपराध मैं कर्म-शृखला मे बँधी ।

बद्ध कपोती सदृश व्याध के पाश मे—
चक्षुहीन-सी अध-गर्त मे जा गिरी,
और उसी ने बदल दिया आगत अथच
अग्नि परीक्षा के चुकने पर भी नही—

तुष्ट हो सकी क्रूर भाग्य की व्यालिनी,
विडम्बना उन्मत्त अमा दुर्भाग्य की।
लौह लेखनी से पत्थर पर लिख दिया—
जैसे मेरा दैव काल विकराल ने,
जो मैं न स्वामिनी अपने कर्म की।
वह भी कैसा कम कि जिस मे मन, वचन—
क्रिया हीन मुझ को विधना ने बाँध कर—
नि सहाय फेंका निन्दा के कूप मे,
तडप-तडप आजीवन जलने के लिए।

अन्त नही है अब भी इस परिताप का,
अब भी मर्मान्तक पीडाएँ शूलती,
लोम-लोम मे दारुण पश्चात्ताप के—
अन्तर्पीडनमयी आग के पाप के—
अकुर फूट बने अभ्रकष वृक्ष से,
व्याप्त हो रहे सारे तन मन वन उगे।

चिन्ता आकुल विषम झाडियो मे घिरी,
क्षत विक्षत सर्वांग प्राण के रुधिर के—
आँसू से धोती हूँ अपने घाव नित।

जग कहता—'ऋषि तुल्य जनक की आत्मजा,
सीता महषी तप पूत श्रीराम की,
जिनका यश वैदिक मन्त्रो का शुभ्रतम,
जो मर्यादा पुरुष परम पुरुषोत्तम,
स्वय विधाता भव के त्राता ईश्वर।'

किन्तु मिले मुझ को तो केवल अबल को—
दारुण दु ख कलाप पाप प्रारब्ध मे।
भोग रही हूँ विवश ममपीडा चरम,
प्राण-द्रावी अबुझ ज्वाल उत्ताल फल।
झुलस रही हूँ मैं अपमानित लाछिता—
निर्वासित यश, इच्छा, कथित कलकिनी।

पके धान सी झिरती पल पल यातना,
पके घाव से फूट रहे सब कष्ट है।
लहर-लहर सा गरल लहरता प्राण मे,
रोम-रोम से जूझ रही दुख ज्वाल है।

दुख है मेरा अकथ, कथा मेरी अकथ,
रोम-रोम से बरस रहे दुख मेघ है।
स्मृतियो की बिजलियाँ चमकती चित मे,
समझ नही पाती इस मन का क्या करूँ ?
दशन होता रहता है सर्वांग मे।

निश्चय तन के दुख से मन का दुख अधिक,
निश्चय चिन्ता चिता मम विद्राविणी।

शब्द अर्थ है सीमित, कष्ट असीम है,
सीमित तन मे भार असीमित ढो रही।
आँधी मे उडते पत्तो सा भाग्य है—
नही ठहरता एक जगह जो मान लूँ—
यही अन्त है, यही अन्त है दु ख का,
यही अन्त है यही अन्त है जन्म का।

जाने क्या-क्या कहे गए अपशब्द है,
जाने किन-किन वाक्यो से आहूत मै।
जाने कितना रोष घोष नभ व्याप्त हो—
गरल उगलता रहा अभागिन के लिए।

ऋषि कहते है वाल्मीकि, तू शुद्ध है—
तू पवित्र है, गगासम निर्मल अमल।
अग्नि परीक्षा देकर भी तो शुद्ध थी,
मुझे मिला फिर क्यो निन्दा दुर्धर्ष फल,
फिर क्यो दौहद मे निर्वासित की गई ?

यह कलक अकलक देह को मिल गया—
जीवन रहने तक जा सकता ही नहीं।
यह कलक है अमिट प्राण का, देह का—
यह विरचि के सकेतो से भी परे—
आजीवन की तपन चरम दुखदाह है।

नही नही, अब नही, न सम्भव लौटना,
अपमानो का घाव अभी भरपूर है,
किस ने मुख को बन्द किया किस के कभी—
ईर्ष्या साँसो के सग उठती ज्वार सी—
विकृति चित्त की रेतीले पर्वत सदृश—
किसी समय भी मानव को अधा करे।
और प्रजाजन कुछ भी कह सकते कभी,
फिर भी तो सम्भव है क्रूर विडम्बना,
फिर भी मृगी वधस्थल लाई जाएगी।

एक बार फिर अप्रत्याशित दड हित—
भीषण ज्वाला मे समुपेक्षित तत्तथा ?
कुठाएँ जीवन की उभरेंगी विकृत,
और मुझे फिर पीना होगा यह गरल।

क्योकि आय हैं जितने वे मेरे अधिक—
उस से रक्षक पालक नृप साकेत के,
प्रिजाजनो के हितू समथक बन्धु है,
प्रिय से प्रिय का त्याग सहज सम्भव उन्हे।

वे विवेक के, दया क्षमा के, सत्य के,
धैर्य-त्याग के महाभाग प्रतिबिम्ब है।
उन में कोई पाप-मोह पलता नही,
वे निर्मत्सर माया मोह अतीत हैं।

नही, अब नही और सहन क्षमता नही,
फिर निर्वासन कष्ट कल्पनातीत है।
हृदय कली फिर खिली सुखो के तरु पली
तोड फेकना फिर मुझ से होगा नही।
फिर अवगाहन सुख की मधु सरित मे
नरक आग मे गिरना फिर न अभीष्ट है।
इष्ट नही है मुझे स्वर्ग पीयूष पी,
फिर वियोग के गरम तैल मे डूबना।
नही, नही अब नही और आगे नही
सहन करेगा मेरा मन विरहाग्नि फिर।
फिर अपवादो के जहरीले तीर फिर
सह सकने की क्षमता मुझ मे अब नही।

किन्तु, श्राय का श्रावाहन, श्राज्ञा, प्रणय,
विरहजन्य श्राकुलता, उत्सुकता, मिलन ?

गूज उठे वे वाक्य स्वय मुख से निसृत—
चौंकाते से विद्रोही श्राधार को ।
माँग रही थी अपना उत्तर श्राप ही,
खोज रही थी तर्क जाल मे प्रेम को ।

शात उदधि-सी धीर मुखाकृति पर सहज—
स्वाभाविकता के भीतर था द्वन्द्व अति,
झुके हुए मेघो मे चितन बिजलिया—
दौड रही प्रतिकूल दिशाएँ घेर कर ।

एक श्रोर पति मिलन चाहना तीव्र थी,
झझा झपित समुद्दाम उद्वेगिनी—
सरित धार-सी अपमानो को तोड तट,
अपवादो मे ग्रस्त श्रह के शान्त कर,
किन्तु दूसरी श्रोर अह सशय-शिखा,
मान, प्रणयगत श्रात्म दर्प झकझोर कर,
भाग्यजन्य काठिन्य, कष्ट, अनुभूतियाँ,
जकड रही थी अस्वीकृति के भाव को ।
'प्रणय' अहम् दोनो मे द्वन्द्व अखड था,
सुदृढ भूमि पर दोनो श्रोर विचार दो—
तर्कों के परिधान पहन सन्नद्ध थे ।

सीता को था नही रोष कुछ राम से,
राम विरह मे भी वह डूबी राम मे ।
तनमय उस की रोम रोम की साधना,
मन मन्दिर मे छवि की करती श्रारती
मानस मन्दिर मे बसती प्रतिमा सजग—
लगी पूछने उस से ही वह क्या करे ?

—तुम मेरे प्रिय राम, न्याय की मूर्ति हो,
तुम्ही धम हो, कम तुम्ही, चिन्तन सकल,
तुम से बाहर नही रही मै कभी भी
मेरी साँसो को गति तुम देते रहे ।

अब भी मेरे तुम्ही जीर्णतन प्राण हो
स्थापित की मर्यादा तुमने मनुज मे,
बुद्धि, विवेकी—न्याय और कर्त्तव्य का—
स्वय आचरण कर के मुझ को बल दिया।
मानव की निष्ठा के प्रेरक राम, तुम।
मैं मन्दानल जलती हूँ चिन्ता विकल।
नही सूझता मुझ को मेरा पथ है,
नृप चरित्र के रक्षण मे अविमत्त हो,
जैसे तुम ने स्वय भूत कर्त्तव्य हित—
प्रेम दूर रख मुझ को निर्वासित किया
और भृकुटि पर तनिक क्षोभ आया नही—
भीतर जलते रह कर भी हँसते रहे,
राज्य व्यवस्था के हित पूर्ण निकाम हो।

तुम हँसते ही रहे हृदय मे आग भर,
तुम पीते ही रहे गरल विरहाग्नि का।
तुम जीते ही रहे दूसरो के लिए,
तुम करते ही रहे काम साम्राज्य का।

उसी महामानव की पत्नी जानकी,
अनुगामिनि मन के पीछे ज्यो इन्द्रियाँ,
चिन्तन के पीछे चलती म क्रिया सम—
नही सोच ही सकी, स्वय मे क्या करूँ ?

मुझ को है विश्वास आज मेरी क्रिया,
चिन्तन का परिणाम, विनिर्णय बुद्धि का,
नि सशय होगा वह तब अनुकूल ही,
चाहे वह प्रत्यक्ष बुद्धि विपरीत हो।'

एक नई धारा मे चिन्तन वह चले,
निश्चित पथ पाने को आतुर प्राण थे।
नेत्र खुले रहने पर भी सब शून्य था,
तर्क वितर्कों से अन्तमथन सजग।
ऊहा, विचिकित्सा के स्तर पर बुद्धि मे—
विनिश्चयात्मक निर्णय को मन व्यग्र था।

एक लहर सी चली चौक प्रज्ञा उठी,
स्पष्ट हो गया, अन्तर्हित स्तर ज्ञान का,

श्रौर प्राण की सत्ता के कर्त्तृत्व ने
सजग कर दिया अन्तर्हित नारीत्व को
सुप्त ज्योति सी हुई प्रज्वलित प्राण मे ।

यह सच है मै पत्नी हूँ, मातृत्व का—
चरम रूप भी समुद्भूत मुझ मे हुआ,
किन्तु अहगत मेरा भी व्यक्तित्व है,
उसे सुरक्षित रखने को वैविघ्य है,
है उस के आधार व्यक्ति-निष्ठा प्रकट
और प्रतिष्ठा जीवन की उस मे निहित,
उसी सत्य से जाग्रत आत्म-ज्योति है,
जो निखारता उजस्वित आत्मत्त्व को ।

सृष्टि तत्त्व की तरह व्याप्त मुझ मे 'अहम्'
उसी दृष्टि से सचालित है प्राण रस ।
निरपराधिनी हूँ मै तन मन कम से
वाणी से भी शुद्ध बुद्ध मेरा स्वयम् ।
फिर क्यो तिमिरावृत के सम अज्ञान मे
मानूँ अपने को मानस अपराधिनी ।

मैं पवित्र हूँ, नित्य सत्य, शुद्धात्मा,
अनाचार का सहना स्वीकृति पाप है ।
निरपराध की नति निश्चय ही है अनय,
मेरा गौरव अन्तर से झकझोरता !
क्यो नत होऊँ किसी व्यक्ति के सामने
क्यो माँगू फिर भिक्षा दया विधान की ।
कर सकती क्या न्याय प्रजा का प्रजा ही
मैं भी जब हूँ प्रजा उसी साम्राज्य की ।

भूल हुई मुझ से कितनी उस काल मे—
मैंने माँगा क्यो न न्याय तब नृपति से ।
वे नृप हैं नृप बने रहे उत्तम यही,
नृपति रूप मे उनके मैं त्यागी गई !
नृपति रूप अब भी उन का अक्षुण्ण है
क्यो न हर सके दोष, दुराग्रह प्रजा का ।

किन्तु किन्तु फिर एक और चि तन जगा
बिजली कौंधी मस्तक के आकाश मे
गव ढहा, स्नेहानिल अकुर उग गया
धूम हटा नव चिन्तन ऊषा आस ले—
'सोच रही हूँ यह क्या आग्रह अहिल सी
नही सोचते योग्य बात है जो कभी।
नही नही, मैं नही अकिंचन स्त्री नही—
ऋत प्रतिज्ञ दशरथ महान् की कुल वधू।

पुण्य वदिनी कौशल्या का स्नेह मे,
अनघ जनक की सुता न शोभन यह मुझे,
मैं पत्नी हूँ आर्य राम की जानकी
साधारण जन से मेरी आत्मीयता—
अधिक राम से, इसीलिए अधिकार की—
मात्रा का अनुपात उसी क्रम से हुआ।

दण्ड दिया मुझ को निज आत्मा ही समझ
स्वय कष्ट सहता है ज्यो नर अपरहित।
कष्ट सहा क्या नही आय ने दण्ड दे,
मेरा वन निर्वासन उन को दण्ड है।

कह सकता है कौन कि वे दडित नही—
हुए मुझे दे दण्ड प्राण खण्डित-हृदय।
सुनती तो हूँ नित्य प्राण दारुण कथा—
जो उड-उड कर छा जाती वन प्रान्त मे
देखा तो था उन्हे अभी पिछले दिनो—
युद्ध हुआ था जब लव कुश से सैन्य का।

मानो मैं थी प्राण आर्य की, देह की—
आकृति कान्ति विहीन क्षीण चिन्ता विकल,
रस नि शेष वेश उस क्षण था आय का,
मानो शत शत पीडा के सागर उमड—
मथित करते हो मन नौका शान्ति की
या प्रचड बडवा ने शतमुख खोलकर—
सोख लिया हो सागर का आगर हृदय।

भूल सकी हूँ नही आज तक रूप वह
करुणा वरुणायित नेत्रो का दृश्य भी।

भूल सकी हूँ नही सरलता साधुता,
और स्वप्न मे जागृति वह रूप मे।
रहे सदा वे मुझे आत्म वरदान से
प्रिय प्राणो से श्वास श्वास की कामना।
चिंतन छन्दो मे भावो के रूप धर—
शब्द शब्द मे अर्थ अथ मे व्याप्त वे।'

× × ×

तन्मयता मे आत्म विसुध वह हो गई
तन मे, मन मे रूप धार मे लहर सम।
भूल गई अपनी सत्ता पति रूप मे—
भूल गई एकात्मपरा आनन्द मे।

अनायास अव्यक्त अंत सुव्यक्त हो
प्राणो ने शब्दो को रस से भर दिया।
और घुमडने लगे भाव निर्बाध मधु—
जैसे नभ से लगी फूटने वर गिरा
बोली—'मेरे गौरी पूजन के समय—
के भोले रुचिराकृति पावन राम हो।
फूलो की सी लाज भरी आभा लिए
नयनो का स्मय विस्मित अधरो की सुखद,
मुसकाती सी झलक राम की चाहिए।

मुझे चाहिए स्नेह-मूर्ति वह राम की
माँ कौशल्या के आँचल के हैं स्नेह जो,
शुद्ध अमृत सीकर से, मादक प्रेम से,
यश से निमल, प्रणत आज्ञा से विमल।

मुझे चाहिए राम जिन्हे जन देख कर
मन की, तन की आधि, व्याधि को भूलते।
पशु पक्षी भी जिन की छवि पर मुग्ध हो
ठगे हुए से रहते अपलक देखते।
जिन की छवि पर सौध सारिका मुग्ध है
शुक जिनकी करुणा के गाते गीत हैं।

मुझे चहिए वे निषाद के स्नेह प्रभु
जो अपलक भक्तो पर प्यार उडेलते।
शबरी के बेरो के पीछे लोक सुख—
न्यौछावर कर सकते वैभव स्वर्ग का।

ऋषियो के चरणो की रज से पूत शुचि
मस्तक जिन का नभ से उच्च विशाल है।
धरती के प्राणी के हित हो कर दुखी—
जिन की आखो मे करुणा कण जागते।
जो जटायु के दुख से रोते, साथ ही—
बाली वध के लिए सहज ही शूर जो।

मुझे चाहिए हनूमान के भक्तिमय—
हृदय देव, विश्वास श्वास से व्याप्त प्रभु,
और पुलक जिन की वाणी के मौन से
क्षार हृदय को अमृत बना कर सीचती।

मुझे चाहिए राम वही बनवास के
खोई सीता के पीछे पागल बने।
जो तरुओ से, लता कुसुम से पूछते
फिर बनो मे मर्माहित आहत पथिक।
मुझे चाहिए राम भरत के बन्धु वे—
लक्ष्मण के आदर, अनुनय सुग्रीव के
युग युगान्त वे राम मुझे मिलते रहे,
युग युगान्त मै बनू सहचरी आर्य की।
और नही अब कुछ भी पाना शेष है
शेष प्राण मे पुर्नमिलन नि शेष हो।

× × ×

तन से, मन से, रोम रोम गद्गद् हुई।
डूब गईं पीडाएँ विस्मृति सिन्धु मे,
दो सीपो मे मोती सुखलडियाँ चली
चेतनता बह गई भक्ति मे ध्यान मे।
सीता की वह अद्भुत योग समाधि थी
चिर समाधि मे लीन हुई जनकात्मजा।

मन्त्र-मुग्ध हो देखा उसने सामने,
दाएँ बाएँ टिकी दृष्टि, भू पर टिकी—
'यही रहे यह लाछित मेरा तन रहे,
यही रहे यह मिलन कामना आर्य की।
विरह पुण्य हो, पुण्य विरह की साधना,
मम जीवन की कथा व्यथा के देश से—
मुक्त करे नारी को नर की शक्ति को।

प्रेम, आत्म-गौरव दोनो के रस मिले,
अकुर फुटा मनो भूमि पर एक नव,
नव विश्वास हुए पुष्पित ज्योतित हृदय,
चिन्तन सौरभ झूम उठा दृढता लिए,
भूधर की गरिमा से तन मन तन उठे,
भीग गई मेघो की प्रणय फुहार से,
श्वेत कमलिनी की आभा सी चेतना—
निकली वाणी भावो की आभा सँजो।

यही रहे यह लाछित तन, मेरा रहे,
यही रहे यह मिलन कामना आय की।
माँ, पृथ्वी अब और नही कुछ चाहिए,
मुझे अब, अवलम्ब अक का दो अमर,
तुम प्राणो की प्राण, तुम्ही मम मुक्ति हो,
मुक्त करो मा, तन से मन से मुक्ति दो।

मुझे पिलाओ अपने जीवन का स्वरस
मुझे पिलाओ कण कण कथा प्रवाह रस,
तुम्ही आदि हो, अन्त तुम्ही जीवन-मरण,
स्नेहमयी मैं भूली, तुम भूली नही,
मुझे अब, अवलम्ब अक का दो अमर
यही रहे यह लाँछित तन मेरा रहे,
इसी विरह मे रहे आय की छवि बसी
तन मे मन मे रोम-रोम मे सास मे
अनरुक पीती रहूँ मरण मे सुधा रस
रहे छलकती, रहे जागती मूर्त्ति वह।

रोम-रोम के रन्ध्र-रन्ध्र से जागकर—
गूज उठी सीता की वाणी व्योम मे।
छदो के पखो पर उडती सान्त्वना,
शब्दो की ध्वनि से फूटी मधुमत्त सी।
एक अनूठा रस छाया नि शेष मे,
नूतन द्रोही मिलन विरह के द्वन्द्व से
पवन स्तरो को चीर दिगन्तो तक बढा।

स्तब्ध क्षितिज के नयन, नयन की लालिमा,
लोक लोक की सीमाएँ तब तोड कर
नक्षत्रो मे भरती लहरें प्रणय की।

प्रकृति मूक, विहगो का रव निस्तब्ध था,
भूधर अकुलाए से सिमटे आप मे ।
नदियो की धाराएँ उमँगी लहर बन
तरुओ के किसलय मे जीवन ज्वार था ।
फैल लताएँ एक दूसरे से सटी,
फूलो की आभा चादी बन हँस गई ।

हरी भरी धरती का आँचल हिल उठा
फूटी धारा पयस्विनी मे प्यार की,
मानो शतशत झरने अपने आप ही
निकल पडे हो उसे न्हिलाने के लिए
मिलन विरह का यह अद्भुत सयोग था
औ' सीता के मुख मयक की शान्ति ही
जीवन-मन की मानो वाणी हो गई ।

धीरे धीरे दरक उठे स्तर धरा के,
खुले बन्द आँचल के माँ के हृदय के,
कर प्रणाम अभिराम राम को हृदय से
स्तन-पायी शिशु सम आँचल की ओट मे
समा गई सीता पृथ्वी के गर्भ मे ।

× × ×

काव्यो मे है रूढ लाँछना आज भी,
ध्वनि उनकी विपरीत अर्थ देती रही ।
नाम स्मरण से होते रहे पुनीत मन ।
निन्दा मे ही पुण्य-तोय-सगम मिला ।

रत्न कभी भी निज महत्त्व खोता नही
भले जा गिरे स्वर्ण अपावन जगह पर ।
ग्रहण ग्रस्त भी भास्कर भास्कर ही रहा,
सीता प्राण पुनीता गीता हो गई ।

दिन पिछले, गिन गिन काट रहा हूँ मैं,
काले उजले सब छाँट रहा हूँ मैं,
जो स्मृतियो मे बस गए उन्हे चुन चुन कर,
आने वालो को बाँट रहा हूँ मै ।

× × ×

अक्षरो की घुण्डियो के भरा भीतर रस,
योजना से फूटता साहित्य का मकरन्द,
सो रहे हर वर्ण मे हैं रसो के रेशे,
फूलते ही गमक उठते सुरभि घन स्वच्छन्द,
इस तरह आनन्द का ही पुत्र अक्षर है,
और अक्षर सुचिंतित आनन्द जनता है,
यही रस साहित्य अक्षर से सुनिर्मित हो,
हृदय से उठता हृदय का छन्द बनता है ।

× × ×

महा विश्व यह स्वय काव्य है काल-कृती का,
धरा गगन की पुस्तक है प्रति सर्ग शती का,
रात दिवस है पृष्ठ घडी पल कथा दृश्य है,
बाँच रहा है प्रलय-सृजन कोई अदृश्य है ।

× × ×

तुम जिए मरे, समान कहो फर्क क्या पडा,
उडा न धूल कण कही न फूल पर चढा,
न जान ही सका कि कौन आ गया यहाँ,
और कौन चल दिया बिना कहे वहाँ ?

× × ×

जगह-जगह मील का पत्थर लगा दिया मैंने,
पृथ्वी असीम को सीमा बना दिया मैंने,

काल का विभाजन कर घड़ियों में बांध लाया हूँ,
बिजली को काँच में जला, बुझा दिया मैंने—
पत्थरों ने साँस पी, घड़ियों में काल ने झाँका,
जिन्दगी पर मौत का इक कर लगा दिया मैंने ?

× × ×

सूर्य देता है प्रकाश पर देह जला देता है,
सत्य होता कठोर हृदय हिला देता है,
चन्द्र पी कर कलंक—विष, अमृत उड़ेला करता,
अपमान स्वयं पीता जो अमृत पिला देता है।

× × ×

इस महाकाल छलनी में है कौन न छन पाया जो ?
है कौन सार हो जिस में मतिमान न कहलाया जो,
इस समय-शिला निकषा पर थोड़े सोना बन पाते,
वे स्वाति बिन्दु थोड़े है जो मोती बन बन आते ?

× × ×

आकाश धरा से एक रात बोला यह,
'तेरी छाती पर बहुत बोझ रहता है,'
धरती बोली, 'तू रो देता पल भर में—
सामर्थ्यवान् ही सब-सुख सहता है ?'

× × ×

हार हृदय की कमजोरी है, सत्य नहीं है,
स्वाभाविक हो रुदन किन्तु वह पथ्य नहीं है,
आज मनुज पर संकट कोई नया नहीं है,
कब संकट के पार मनुज यह गया नहीं है ?

× × ×

यह साँसों का व्यापार अनकहे चलता रहता है,
यह जीने का अधिकार अनकहे गलता रहता है,
यदि चेतन की तूलि, सृजन रेखा में प्राण भरे—
मृत्यु दाढ़ से खींच जिन्दगी मंगलगान करे।

× × ×

जो ऊँचा सिर कर खड़ा, पैर जिस के धरती पर हैं,
उस की मंजिल है नई, नए उस के अपने घर है।

रुक न सकेगा कभी शक्ति दी जिसे प्रहारो ने—
लख नव वामन चरण छोड दी राह सितारो ने ।

× × ×

भय-तिमिर के सिन्धु को चीरो चलो अन्दर,
मौत लिपटी सीपियो मे सो रहा मोती,
जो जहर पी भर रहा सिसकारियाँ है साँप,
बीन की मदरागिनी भी उसी मे सोती ।

× × ×

न पथि मजिल मिली बीच ही चल दिए,
उडे थे गगन मे कि पर मल दिए,
सुबह जो जली आग अब बुझ चली,
बहुत प्रश्न थे एक दो हल किए ?

× × ×

उलझती गई जिन्दगी की गिरह,
न सुलझा सके एक भी तार हम,
बिगडती गई शक्ल इसान की,
बनाते थके चित्र सौ बार हम,
(न बुझ ही सकी प्यास इन्सान की,
पिलाते थके प्यार सौ बार हम ।)

× × ×

काँपते हैं हाथ फिर भी लिख रहा हूँ मै,
साँझ के हूँ पास फिर भी दिख रहा हूँ मै ।
डगमगाते पैर मेरे, चल रहे हो तुम—
दे रहे तुम ही सहारा चल रहा हूँ मै ।

× × ×

खडा रह सकेगा रे यह मस्तक, कब तक तेरा मानी ?
झुका नही फल पाकर भी तू नवा नही अज्ञानी ?
जब तक दिन है तभी तलक सिर अकड रहा है तेरा—
मिट्टी का सिरहाना होगा जहाँ रात ने घेरा ।

× × ×

बोल रहा या तीर जहर के पैने छोड रहा है,
समझ रहा है जैसे सारे जग को मोड रहा है।
हर पिद्दी यह माना करता आसमान है उस पर,
औ' हर साँप जानता जैसे जडी हुई मणि फन पर।

× × ×

इतनी प्यास प्राण मे भर दी—
अत नही मिलता है,
गले गले तक अबुझ चाह का—
बडवानल पलता है,
एक प्यास हो तो बतलाऊँ—
बुझती नही जलन यह,
रोम रोम डूबा है फिर भी—
रोम रोम जलता है।

× × ×

रोता है खोटा दाम, रो न चल जाएगा।
कपडा फटा है तो वह भी सिल जाएगा,
खोटा यदि मन है जल्दी कर दूर हटा—
तू तो डूब जाएगा ही वश को डुबायगा।

× × ×

नौकरी करता हूँ तो क्या तलुए चाटूँ तेरे,
हाँ हाँ करूँ, ही ही करूँ काटू फेरे।
याद रखना 'अह' मेरा नही कवि का है,
जिसका टुकडो पै कभी भी स्वर न बिका है।

× × ×

तू किसी का स्वर न बन अभिमान मे मत खो—
भले घड से पैर छोटे हो मगर है दो,
देवता और राक्षस तुझ से सभी छोटे,
अगर तुझ मे आदमी हो, आदमियत हो।

× × ×

दो पैर हैं, दो हाथ हैं, दो आँख है, दो कान,
बुद्धि भी है पास तो वह सही है इन्सान,
चाहिए क्या फिर उसे है स्वर्ग पग की धूल
धडकनो मे रोम उस के, आँख मे यूनान।

× × ×

शब्दो के अको मे अर्थों का सावन है,
छदो के शरीर पर गीतो का दामन है,
गीतो की प्यास मे उमडन है सागर की—
शब्द उस विराट् का अवतार वामन है।

× × ×

धन्य वे मौन, जन्म अक्षर को दे गए,
वाणी की कोख से निकले शिशु ले गए,
बरते वे अक्षर रहे कविता-सुकन्या को,
कविता के पुत्र रस-सिन्धु मे नए, नए।

बाबू जी

पात्र

भोलानाथ	—	पति
शशी	—	पत्नी
अमरनाथ	—	पति
कान्ता	—	पत्नी
केदार	—	भोलानाथ का भाई
रामसिंह	—	नौकर
चुनियाँ	—	नौकरानी
पपी	—	अमरनाथ का बच्चा

[समय शाम के पाँच बजे। एक चौकोर रग-बिरगी टाइल्स का सजा हुआ बडा कमरा। सामने दीवार पर मकान-मालिक का लाइफ-साइज चित्र। दक्षिण की तरफ कानिस्त पर कुछ बस्ट। ऊपर आदमकद शीशा, जिस से कमरे के सामने का भाग दिखाई दे रहा है। एक तरफ पश्चिम मे सोफासेट, कुछ कुर्सियाँ। पूर्व की तरफ दूसरे कमरे मे जाने का दरवाजा, कमरा इस समय बिलकुल खाली है। दूसरी ओर पूर्व के कमरे से गुनगुनाने की आवाज आ रही है जैसे कोई ड्रेसिंग टेबल के सामने खडा होकर शृगार कर रहा है। एक बच्चा कूदता हुआ कमरे मे चला आता है और कुछ देर काउच पर बैठ या लेट कर चला जाता है फिर सुनसान। एकाध बार कानिस्त से कोई चीज उठाने एक युवती आती है। फिर दरवाजे को देख कर लौट जाती है—गुनगुनाती हुई। युवती की उम्र तीस वर्ष दुहरा शरीर, गोरा रग, साधारण रूप, देखने मे बुरी नहीं है। हल्की नारगी रग की साडी पहने है, जिसमे से सफेद पेटी-कोट चमकता है। पैरों मे पीली मखमली चप्पल। प्राय सभी पात्र अपटूडेट, पुरुष बिना टाई के, स्त्रियाँ मध्यम वर्ग की, साधारण पढी-लिखी हैं। केवल केदार तहमद और सफेद कमीज पहने है। केदार को छोड कर बाकी सब साधारण बुद्धि के लोग हैं, जिन्हे स्वार्थ के सामने सब व्यर्थ लगता है। अपने विचारों मे स्वार्थ मे मग्न, उनके जीवन मे दिखावे का स्थान प्रथम है। इसी समय भोलानाथ प्रवेश करता है।]

भोलानाथ—(हडबडाता हुआ आ कर) देवी जी, देवी जी, भई तुम्हे पाना भी गौरीशकर की चोटी पाने के समान है। कही दिखाई ही नही देती।

शशी—(आ कर) हाँ, क्या कहते हो ? मेरी ढाई मन की लाश भी अगर तुम्हे नही दिखाई देती तो क्या कहू, चश्मा खराब है या दिया (पास आ कर) हा, क्या कहते हो, बोलो।

भोलानाथ—एक खुशखबरी सुनाऊँ, तुम्हारी सहेली अपने पति के साथ आ रही है और अभी

शशी—(उत्साह से) कौन सहेली ?

भोलानाथ—अरे वही तो, क्या नाम है उसका ? मेरी याद भी तो ऐसी है जो तुम्हारी मेहरबानी की तरह कभी कभी आती है।

शशी—हाँ, मैं तो तुम से लडती ही रहती हूँ और जैसे आप बडे सीधे हैं।

भोलानाथ—जैसे तुम बडी ही खुर्राट हो। खैर भई, नाम तो उस का याद नही पर वह मेरे दोस्त अमरनाथ की पत्नी है। वही आ रहे हैं। कल इलाहाबाद से उन की बदली यहाँ हुई है। दफ्तर मे मिले और मैंने सोचा, आए हैं तो चाय पर बुला लू। तो बस, समझो अब आ ही रहे है।

शशी—(उसी रूप से) तो यह कहो मेरी सहेली के नाम से अपने दोस्त को बुला रहे हो। मैं जानती हूँ जब कोई काम कराना होता है ता लल्लो-चप्पो करेंगे, तारीफ करेंगे। कहेगे तुम ऐसी हो, तुम वैसी हो। (मुस्कराती है।)

भोलानाथ—पर आज तो मैंने कुछ भी नही कहा, सिफ गौरीशकर की चोटी की तरह तुम्हे अजेय' कह दिया है और भई तुम्हारी तारीफ नही करेगे तो क्या दाढी-मूछ के आदमी की तारीफ करेंगे। तुम से तो कला साथक है देवी जी।

शशी—अच्छा, अच्छा हुआ। कितने आदमी है ?

भोलानाथ—दो अदद। एक औरत, एक आदमी। शायद कोई बच्चा हो, हालाकि उम्मीद नही है। हम लोगो की तरह वह लगार नही लिए फिरते।

शशी—(व्यग्य से) हूँ, तो मेरे बच्चे तुम्हे लगार लगते हैं। लोग तरसते हैं, बच्चो का मुँह देखने के लिए मिन्नते करते हैं। तब कही इन का मुँह देखने को मिलता है।

भोलानाथ—अरे होगा, पर आज के जमाने मे तो ज्यादा बच्चे होना खैर जरा जल्दी करो। अभी दस -पाँच मिनट मे वे लोग आ ही रहे होगे।

शशी—बस, यही बात मुझे बुरी लगती है। हर वक्त ताना मारते रहोगे। (चुप्पी) नाराज न हो, मै जाती हूँ, तुम यहाँ मेज कुर्सी ठीक कराओ, मे चाय का पानी रखे देती हूँ। (जाती है)

भोलानाथ—रामसिंह इधर आओ।

नौकर—(दूर से) हाँ आए, बडे भैया ?

भोलानाथ—देखो, इस कमरे को जरा साफ तो कर दो। दरी-चरी ठीक से बिछा दो, दो-तीन आदमी चाय पीने आने वाले है।

नौकर—अच्छा, बडे भैया।

भोलानाथ—मैं कपडे बदल कर आता हूँ और देखो ये तस्वीरें भी जरा साफ कर देना। बाबू जी की यह तस्वीर जरा टेढी हो गई है इसे भी ठीक कर देना।

नौकर—बाबू जी की यह तस्वीर उन्ही के कमरे मे लगा दू बडे भैया

भोलानाथ—नही नही तुम से जो कहा सो कर, मैं अभी आया।

[नौकर गुनगुनाता हुआ भाड-पौंछ करता है। शशी का प्रवेश]

शशी—हो गया ठीक रामसिंह, जा बाजार जा कर मिठाई तो ले आ। जल्दी जा।

[भोलानाथ का प्रवेश]

भोलानाथ—बस, यह ठीक रहेगा। नीचे बैठने का इन्तजाम भी बुरा नही है। फिर जिस को काउच पर बैठना हो वह भी दूर नही है।

शशी—हो गया सब ठीक। मिठाई रामसिंह लेने गया है। असल मे बात यह है, इस कमरे के बिना हमारा गुजारा नही है।

भोलानाथ—सो तो है ही। बाबू जी नही चाहते थे कि यह कमरा उन से कोई ले, पर मैं तो तुम जानो बाबू जी का ही लडका हूँ न। (हँसता है) (पद्चाप) लो आ गए। आओ भई, अमरनाथ।

शशी—**कौन ? (पहचान कर)** अरे कान्ता तू है, आ, आ ले बैठ, बैठ जा।

भोलानाथ—कहा नही था तुम्हारी सहेली। पर हमारी बात पर कोई विश्वास करे तब न। आओ भाई अमरनाथ। मैंने इन से कहा कि वह तुम्हारी सहेली है।

कान्ता—**(मुस्कराकर)** तो तुम्हे तो मालूम था भाभी।

शशी—क्या बताऊँ याद ही नही रही निगोडी। नाम भी तो नही बताया इन्होने।

कान्ता—मेरा तो यह मकान चप्पा-चप्पा देखा हुआ है, मैंने इन से कहा भी था।

अमरनाथ—मुझे क्या मालूम, बल्कि इन्होने ही मुझे रास्ता बतलाया भोलानाथ।

शशी—यह कोई नई बात नही है, हर समझदार औरत अपने पति को रास्ता बताती है।

भोलानाथ—**(हँस कर)** और कभी-कभी ऐसा रास्ता दिखाती है कि ·

अमरनाथ—**(उसी स्वर मे)** दिखाती ही नही, नपाती भी है भोलानाथ, कि चलते चलते जिन्दगी का छोर आ पहुँचता है फिर भी लगता है रास्ता कही नही है।

कान्ता—**(ताने के साथ)** यह तो अपन अपने चलने के ऊपर है, इसमे दूसरे का क्या दोष, क्यो, शशी ?

शशी—(हँस कर) कम से कम मै इतना कह सकती हूँ कि स्त्री का बताया रास्ता आदमी कम भूलता है। अरी तू इधर बैठ, बैठ न।

भोलनाथ—मैंने भी सोचा कि अपना हिन्दुस्तानी ढग बुरा नही है, अच्छा है। कर्सी-मेज मुझे पसन्द भी नही है और कोई कोट-पतलून वाला हो तो काउच है ही।

अमरनाथ—ठीक है, ठीक है। आदमी 'एट ईज' रहता है। पप्पी, यहाँ आ जाओ यहाँ बैठो बेटा। नही तो आओ खेलो, बाहर खेलो। जाओ।

शशी—(कान्ता से) तू कब आई, सुना है यहाँ की बदली हो गई है।

कान्ता—हाँ, कल ही आए है हम लोग।

भोलानाथ—बहुत दिनो बाद मिले, दोस्त, कहो ठीक हो? (शशी से) तो जाओ चाय, हाँ हा

अमरनाथ—हाँ, ठीक चल रहा है। जमाना कैसा जा रहा है भोलानाथ, कुछ भी निश्चय नही है कल क्या हो जाएगा।

शशी—म चाय लाती हूँ। तू बैठ कान्ता, यहा बैठ। (जाती है)

भोलानाथ—अब तो क्लास टू मे होगे। चलो अच्छा है, बहुत अच्छा है। हम तो कहते हैं आदमी की तरक्की होती रहे चाहे सारा जमाना भाड मे जाए। और कौन हमने दुनिया का ठेका ले रखा है। सब का अपना-अपना भाग है, क्यो (हाथ मार कर) है न अमरनाथ?

कान्ता—(पति से) देखो, यह इन के बाबू जी की तस्वीर है।

अमरनाथ—(देखकर) हा अच्छी है। रौब दाबवाले मालूम होते हैं।

भोलानाथ—क्या पूछते हो अमरनाथ, पाच सौ रुपये तो बनवाई दी है। भाइयो ने चाहा कि यह तस्वीर हम ले लें। मैंने कहा और चाहे कुछ लो, पर तस्वीर मैं नही दूँगा। रोज दशन करता हूँ। (हाथ जोड कर) दिन अच्छा बीत जाता है। ठीक है न।

शशी—रामसिंह, ले आया सब, यहा रख द। मिठाई, नमकीन, फल, चाय वगैरा।

भोलानाथ—चाय यहाँ मोमजामे पर रख। लो भई पियो। बडी कृपा की तुम ने।

कान्ता—मैं इन से सदा कहती थी भैया और भाभी का स्वभाव बहुत अच्छा है।

अमरनाथ—और मैं इस से कहता था कि भोलानाथ का स्वभाव बताने की कोई जरूरत नही है, वह मेरे क्लास-फेलो रहे है। भाभी की तुम जानो।

कान्ता—तो मेरी बात झूठ तो नही निकली।

अमरनाथ—और मेरी बात झूठ है। (हँसता है)

भोलानाथ—मेरा ख्याल है तुम दोनो की बात झूठ है। अरे, हम भी कोई

आदमी हैं, पूरे गावदू, मिट्टी के माधो। पर नही, यह मैं ने अपने लिए कहा है, शशी के लिए नही है यह बात। अच्छा, चाय तो पियो, तो इन्हे भी मिठाई-विठाई दो न। मैं कहता हू जिन्दगी हँसी-खुशी से गुजार लेने का नाम है।

अमरनाथ—आजकल जैसे भी गुजर जाए, गनीमत है भोलानाथ भाई।

कान्ता—यह सब तस्वीरें बाबूजी के जमाने की है। पहले यह कमरा उन्ही का था, क्यो, भाभी ?

भोलानाथ—क्यो, क्या है रामसिंह ?

रामसिंह—नीचे कोई बुला रहे है।

भोलानाथ—अमरनाथ, मैं अभी आया। तुम तब तक चाय पियो, देखू, कौन है। (जाता है।)

शशी—जल्दी आना। हाँ कान्ता, यह कमरा पहले उन्ही का था। अब हमारा है।

[हल्की-सी आवाज आती है—पानी, पानी]

शशी—सभी देवर चाहते थे कि यह कमरा हम को मिले, हम को मिले, इधर बाबू जी भी छोडना नही चाहते थे। इन्होने कहा और सब ले लो पर यह कमरा मैं नही दूगा।

कान्ता—फिर ?

शशी—फिर क्या, एक बार मेरे भाई आए। तुम जानो हमारे पास भी तो दो ही कमरे थे। कहाँ ठहराते मैंने इसी कमरे मे ला कर उन्हे ठहरा दिया। पहले तो बाबू जी को बुरा लगा, फिर साथ वाले कमरे मे थोडे दिन के लिए चले गए। लो एक प्याला और लो न ?

कान्ता—हाँ तुम भी एक और लोगे ?

अमरनाथ—ले लूँगा।

कान्ता—बडा अच्छा कमरा है। हवादार और बडा भी।

शशी—असल मे यह कमरा बाबू जी ने अपने आराम के लिए बनवाया था। पर हम कहाँ जाएँ। वह बूढे हो गए। काम न धाम, दिन भर पडे रहना।

[पानी-पानी की आवाज]

कान्ता—यह कौन है ?

शशी—कोई नही। अरी, तूने यह मिठाई तो खाई ही नही। ले न। आप भी लीजिए न अमरनाथ बाबू।

अमरनाथ—जी, ले रहा हूँ। मालूम होता है भोलानाथ बाबू जल्दी नही लौटेंगे।

[पानी-पानी की आवाज]

यह कौन है ? क्या इनको कोई पानी देने वाला नही है ?

शशी—अभी नौकर आता होगा, पानी दे देगा। इन्हे कुछ काम तो है नही,

जहाँ किसी को कुछ काम करते देखेंगे, फौरन कोई काम बता देंगे। खाना खाएँगे तो बीस तुक निकालेंगे—इस मे नमक नही है, इस मे मिर्च ज्यादा है, यह उबला हुआ है, ठण्डा है, बहुत गरम है। इसलिए मैंने इन का खाना बनाना ही छोड दिया है। कहाँ तक करती। मैं तो इन के कमरे मे जाती भी नही। (जाती है।)

अमरनाथ—तो पानी दे आइए न।

शशी—(**दौड कर आती हुई**) देख कान्ता, ये तस्वीरें मैंने बनाई है।

अमरनाथ—वाह बहुत अच्छी हैं। अरे, आप तो बडी चित्रकार हैं। वाह, क्या खूबसूरत रग भरे है।

कान्ता—भाभी, सचमच भाई वाह, तुम तो गुणो की गुथली निकली।

शशी—यह श्रवणकुमार की तस्वीर है। यह तस्वीर मुझे बहुत प्यारी लगती है।

[**भोलानाथ आता है।**]

भोलानाथ—अच्छा, शशी की चित्रकला देखी जा रही है। खूब है, क्यो अमरनाथ, क्या सलाह है, यह श्रवणकुमार की तस्वीर कैसी रही, बुरी नही है। हमारे घर मे सब को पसन्द है। कन्धे पर माँ-बाप को लिए श्रवणकुमार। पितृ भक्ति की एकमात्र कहानी।

अमरनाथ—बहुत सुन्दर हे, पर मुझे तो बूढी सास का चित्र पसन्द आया। (**हँसता है।**) वाह क्या तस्वीर बनाई है। बुढिया को गहनो से लाद दिया है।

भोलानाथ—यह गलत नही है। अमरनाथ, क्या तुम ने ऐसी सासें नही देखी? मैंने तो जब पहले पहल तस्वीर देखी तो हँसते हँसते लोट पोट हो गया।

कान्ता—देखू (**हँसती ही जाती है।**) सचमुच आजकल ऐसी सासें भी होती है—बूढी, पर नाज-नखरे, सिंगार-पटार दिन-भर करती रहती हैं। कहाँ जाएँगी ये बुढियाँ, और देखो तो तीन-तीन गहने गले मे, नाक मे नथ, कानो मे टाप्स, हाथो मे कडे, चूडिया, अनन्त, मरो तमु। (**हँसती है**) भाभी गजब कर दिया तुम ने तो।

[**पानी-पानी की आवाज**]

भोलानाथ—(**चिल्ला कर**) रामसिह, पानी दे द बाबू जी को।

रामसिह—(**दूर से ही**) देता हूँ। देता हूँ, जरा काम कर लू।

भोलानाथ—(**धीरे से**) सब से नाराज हैं। बच्चो को तो खाने को दौडते हैं। इन मे से कोई जा थोडे ही सकता है उन के पास।

अमरनाथ—आप लोग बडे भाग्यशाली है, इतना बडा मकान, इतने भाई बहन बच्चो से भरा-पूरा है। अच्छा, आज्ञा दो भोलानाथ, चले।

[**पानी दे दो कोई पानी**]

शशी—अरे बैठिये न, खाना खा कर जाइएगा।

कान्ता—नही भाभी, फिर कभी। (**केदार आता है**) ओ केदार भैया?

केदार—अरे तू कान्ता, इतनी बडी हो गई। लडकिया बास की तरह बढती है, आज एक फुट, कल दो फुट। परसो चार और दो तीन वष बाद देखो तो ऊपर-नीचे सभी जगह वे ही वे दिखाई देगी। अभी कल तक इसे मुँह धोने का शऊर नही था, क्यो कान्ता ? (हँसता है)

कान्ता—तुम्हे तो अभी तक धोती बाधना भी नही आया केदार, धोती है कि बुहारी।

भोलानाथ—हमारा केदार फिलासफर है, फिलासफर। किताब भली या आप।

शशी—खाना खा लेंगे और कहेगे अरे, खाना तो खाया ही नही।

केदार—भाई साहब, दुनियाँ बहुत तेजी से बदल रही है। मुमकिन है कुछ दिनो बाद हम लोग यह तुम्हारा खाना छोड दे और इस की बजाय खास तरह का रासायनिक भोजन किया जाए। और यह कभी कभी उत्सवो मे ही लिया जाय। फिर अनाज इतना ज्यादा पैदा करने की भी जरूरत नही रहेगी। उन उत्सवो मे हम लोग कहा करेंगे, धरती के चने की पकौडियाँ, असली मटर का चाप, जमीन की गाय के दूध की खीर।

शशी—फिर खाएँगे क्या केदार ?

केदार—सुनो, इस दुनिया ने दो महायुद्ध एक ही जिन्दगी मे देखे है। इस मे विज्ञान ने जो चमत्कारिक प्रयोग किए वे दुनियाँ को बदल डालने के लिए काफी ह। अभी थोडे दिनो बाद हम लोग चन्द्रलोक तक पहुँच जाएँगे। वहाँ पृथ्वी के वायु मण्डल का अभाव होगा, इसलिए आदमी अपने साथ वायुमण्डल भी ले जाएगा। हाँ, शुक्र और मगल तक पहुँचने मे हमे समय लेगा, क्योकि मगललोक मे चन्द्रलोक से भी कम वायुमण्डल है। शुक्रलोक का वायुमण्डल बहुत जहरीला है। बुध बहुत गरम है। बाकी लोक बहुत ठण्डे है।

अमरनाथ—फिर हमारी भूमि का क्या होगा ?

केदार—हमारी भूमि भी बदल जायगी। सहारा की मरुभूमि मे खूबसूरत शहर बस जाएँगे। आस्ट्रेलिया की मध्यभूमि, जहाँ आज एक तिनका नही उगता, हरी भरी हो जाएगी। खैर, असली बात यह है कि हम लोगो के सम्बन्ध भी काम चलाऊ होगे। ये दया, करुणा, माया आदि फिजूल की चीजो के लिए हमारे मन मे कोई जगह नही होगी। मैं नही मानता जिस की दुनियाँ मे कोई जरूरत नही है, वह जिन्दा रहे और हम सिफ उसे इसलिए जिन्दा रखे कि कभी वह हमारी थी या हमारे साथ उस का कोई लगाव था।

भोलानाथ—मालूम होता है आज कोई नई किताब पढी है।

केदार—नई तो रोज ही पढता हूँ। बात यह है भाई साहब, बाबू जी का कमरा मुझे चाहिए, मैं बच्चो मे रह कर पढ नही सकता। किल-खिल, किल खिल मुझे अच्छी नही लगती। यह मेरा रोज का काम है। बिना स्टडी के कालेज

मे जा कर मैं पढाऊँ भी क्या ?

भोलानाथ—यह तो बडी मुश्किल है।

केदार—मुश्किल कुछ भी नही है। आजकल टैक तो पहाड पर भी चढ सकते हैं। मैं अभी आया। (जाता है।)

अमरनाथ—मकान तो बिलकुल नया मालूम होता है। देखो न दीवारे कितनी मजबूत है।

भोलानाथ—बिलकुल, अभी दस साल भी तो पूरे नही हुए। बाबू जी ने बडे मन से इसे बनवाया है। दिन-दिन यहा रह कर एक-एक ईट देख कर लगवाई है। कहते थे, ऐसा मकान बनवा रहा हूँ जो सौ साल तक हिल नही सकता।

अमरनाथ—तभी ये टाइल्स जरा देखिए। दीवारे जैसे फौलाद की हो। आल्मारियाँ भी कम खूबसूरत नही हैं। पक्का रोगन है, ये कानिस्त, ये खिडकियाँ।

भोलानाथ—बिलकुल पक्का। लकडी खास मध्य प्रदेश से मँगवाई। चूना, सीमेट और लोहा सभी बढिया ढग का लगा है।

अमरनाथ—कितने कमरे हैं ?

भोलानाथ—पाँच ऊपर और पाँच नीचे। ऊपर के तीन कमरे मेरे पास हैं। एक मे बाबू जी है और एक मे केदार, उसकी पत्नी और एक बच्चा।

अमरनाथ—तब तो केदार बाबू के पास जगह कम है। नीचे कितने कमरे हैं ?

भोलानाथ—नीचे एक मे रसोई है, एक मे स्टोर है, एक मे मेरा छोटा भाई सिद्धनाथ पढता है, और एक मे अडगम बडगम। एक कमरे मे नौकर रहता है।

[पानी दे दो कोई एक गिलास, गला सूखा जा रहा है।]

शशी—और हमे बैठने-उठने की थोडी-सी तुम जानो आजादी तो चाहिए ही। हमारे पास तीन कमरे भी थोडे हैं। दो बच्चे छोटे, एक बडी लडकी और एक लडका। दोनो को पढने के लिए जगह चाहिए ही। केदार बाबू की नजर हमारे कमरे पर है। पर हम कैसे दे दें ? **(खाँसने की आवाज)** कहाँ जाएँ क्या करे।

कान्ता—सभी जगह मुश्किल है। हम जिन के यहाँ ठहरे है, मकान की तगी उन्हे भी है। हम भी मकान ढूढ रहे हैं **(केदार आता है।)**

केदार—हाँ, तो क्या फैसला हुआ ? बात यह है, मुझे अपना 'थीसिस' लिखना हैं, मुझे जगह चाहिए। मुझे एकान्त चाहिए। फिर एक बात और है—वह रात-रात भर चिल्लाते हैं, खाँसते है, फिर कभी कभी तो उन की जोर की खाँसी से भानू डर कर जाग जाता है। कमरा खराब भी हो जाता है। बेहद दुगन्ध उठती है।

भोलानाथ—तो तुम नीचे का कमरा ले लो ! यह भी तो अच्छा है।

केदार—वह मुझे नही चाहिए। उसकी खिड की सडक मे खुलती है। वहाँ शोर मचता है। बदबू भी आती है। मैं वहाँ काम नही कर सकता। फिर नीचे का कमरा।

भोलानाथ—बाबू जी का मामला है।

केदार—बाबूजी का मामला तो इस कमरे के लिए भी था।

शशी—केदार को यह बडी जलन है कि यह कमरा हमारे पास क्यो आया।

केदार—मुझे कोई जलन नही है। जलन तुम को है, क्या तुम्हे यह नही सोचना चाहिए कि मैं कितनी मुसीबत मे हूँ ?

भोलानाथ—तो तुम यह कमरा

शशी—(गरज कर) नही, यह हरगिज नही होगा। कहे देती हूँ यह कमरा मैं कभी किसी को नही दूँगी। मुन्नी श्याम कहाँ पढेंगे ? फिर मेहमान, आने-जाने वाले कहाँ जाएँगे।

केदार—(जोर से) तो मकान मे हमारा भी हिस्सा है। हम भी मालिक है।

[पानी-पानी]

शशी—सारा मकान खाली पडा है, तुम ले लो उस मे, कोई मना करता है ?

केदार—तुम से ज्यादा मेरा काम जरूरी है।

शशी—(चिल्ला कर) काम सब का जरूरी है। काम करना चाहो तो वहाँ भी कर सकते हो, न करना हो और जलना हो तो बात दूसरी है।

केदार—चुप हो जाओ।

शशी—(रोकर) क्यो चुप हो जाऊँ ? क्या मैं इस घर की कोई भी नही हू ? क्या मेरा हक नही है और मैं सब से बडी हूँ, मालिकन हूँ।

अमरनाथ—अच्छा, हमे आज्ञा दीजिए।

भोलानाथ—चलेंगे। अच्छा। न जाने क्या बात का बतगड बना लिया है इन लोगो ने।

अमरनाथ—कोई बात नही। जहाँ चार बरतन होते है खटकते ही है। नमस्कार।

भोलानाथ—नमस्कार।

कान्ता—में भी चली भाभी। अच्छा चलो पप्पी।

पप्पी—ममी पानी पीऊँगा प्यास लगी है।

शशी—(अपने लडके को पुकार कर) श्याम एक गिलास पानी तो ला दे पपी को।

भोलानाथ—अरे, इसे न चाय पिलाई न कुछ खिलाया ही। (चिल्ला कर) इसे एक बोतल ला दे बाजार से जा श्याम।

[नेपथ्य से आवाज आती है, "अच्छा, अभी लाया।"]

हाँ ला दे, बेटा देख तो कैसा प्यासा है ? अभी आती है बोतल। अभा-अभी। हाँ तो ऐसा करो बाबू जी को नीचे के कमरे मे लिटा दो।

शशी—नीचे का कमरा बुरा नही है। उन्हे जीना ही कै दिन है ?

भोलानाथ—खैर, यह तो कोई बात नही है। तुम्हे ऐसा नही कहना चाहिए शशी।

केदार—भाभी की बात गलत नही है। मैं तो मानता हूँ मनुष्य की एक उपयोगिता है। वह जब समाप्त हो जाय तो जीने का हक उस का कम हो जाता है।

[बोतल आ गई, "पानी, रार्मासह क्या तू भी मर गया ?"]

भोलानाथ—दे दे। लो पीओ बेटा, जाने कब का प्यासा था लडका। (दोनो) अच्छा हम चले।

केदारनाथ—केदार बाबू, आप की फिलासफी चाहे कल के लिए अच्छी हो जब मनुष्य न रहकर पशु बन जाए पर आज तो

[पानी दे दो कोई पानी]

भोलानाथ—(क्रोध से) मैं आया, पानी दे आऊँ। न जाने रार्मासह को (जाता है।)

केदार—मनुष्य को रेशनल दृष्टिकोण रखने की जरूरत है। बुड्ढे लगडे बैलो को गौशाला मे पालने का जमाना गया। क्या आप नही मानते कि चारे का देश मे कितना अभाव है, फिर अच्छी दूध देने वाली गायो को वह चारा न दे कर उन निकम्मे बैलो को चारा नही खिलाया जा सकता। उस की कोई उपयोगिता भी तो नही है, उन सब को अपनी मौत मरने देना चाहिए। यह सकट का जमाना है, अमरनाथ बाबू।

भोलानाथ—लौट कर बाबू जी की तबियत बहुत खराब है। बहुत जोर से मत बोलो। मैंने उन से कह दिया है वे नीचे जा रहे है।

केदार—(उछलकर) मान गए वे ? यह बहुत अच्छा हुआ।

[सब चले जाते है। रार्मासह बुहारी लेकर कमरा साफ करने आता है। कुछ सोचने लगता है। उस के पीछे चुनियाँ आती है।]

चुनियाँ—क्या सोच रहे हो रार्मासह ?

रार्मासह—सोच रहा हू बुढापा कितना बुरा है, जो कभी घर का मालिक था। जिस के कहने पर घर के सब लोग नाचते थे, खुश होते थे, नाराज होने पर काँपते थे, आज उन की क्या हालत है।

चुनियाँ—क्यो क्या हुआ ?

रार्मासह—बडे चाव से मकान बनवाया था। उस मे भी अपना कमरा अलग बनवाया था जैसे यह यही रहेगे। सात-आठ साल भी नही रह पाए कि वह जबरदस्ती खाली करना पडा।

चुनियाँ—क्यो ?

रार्मासह—क्यो, अरी तू तब आई ही थी। एक दिन बडी बहू ने अपने भाई को बुला कर बाबू जी के कमरे मे ठहरा दिया। कहा, हमारे पास कमरा नही है। मेहमान है। बाबू जी के कमरे मे एक खाट डाल दो। बस,

खाट डाल दी गई। उन्हो ने मना भी किया, पर एक दिन वह जरा बाहर गए तो देखा एक खाट, कुछ सामान उन के कमरे मे रखा है। बाबू जी ने देखा तो चुप रह गए बोले कुछ भी नही। इस के साथ ही मुझ से कह कर अपनी खाट दूसरे कमरे मे डलवा ली।

चुनिया—उन्हे तो बहुत बुरा लगा होगा।

रामसिह—किसी ने उन के बुरे लगने का ख्याल ही नही किया। बस, तब से बडी बहू ने इसे अपने कब्जे मे कर लिया। एकाध बार बाबू जो ने कहा भी तो किसी ने जवाब तक नही दिया। बडी बहू ने भीतर का दरवाजा खोल कर बाहर से उस मे ताला डाल दिया। बाबू जी क्या करते, चुप रह गए। अब उन का पुराना कमरा केदार बाबू जी ने छीन लिया। अब वे नीचे के कमरे मे जा रहे है, किसी को फुसत नही है कि उन से कोई दो बात भी करे।

चुनियाँ—बडा कष्ट है बूढे को, तुम तो देख लिया करो, पुराने नौकर हो उन के। बडे भले है विचारे, आज अगर बडी बीबी जी होती?

रामसिह—आज बडी बीबी जी होती तो उन्हे ही कौन सुख मिलता। बडे भैया के यहाँ तो बडी बहू की चलती है। उस से वह ऐसे डरते है कि बोलती बन्द हो जाती है उस के सामने।

चुनिया—और केदार बाबू?

रामसिह—वह उन से भी दो कदम आगे है। बीबी को ले कर अकेले बाहर चले जाएँगे सिनेमा देखने। कभी बडे बाबू जी से बोलते भी नही है। सामने होते ही कहिए क्या हाल है? कालिज मे काम बहुत है, कह कर चले जाएँगे।

चुनियाँ—उन की बहू भी तो बडी चालाक है, मुझ से बोलने मे भी अपनी हेठी समझती है। बस किताब लिए पढती रहती। सिद्धनाथ बाबू कुछ अच्छे है।

रामसिह—हाँ वह अकेला लडका है। सो वह बाहर रहता है। असली पूछो तो थोडी बहुत देखभाल वही करता है।

चुनिया—तुम देखा करो, मुझे तो उन के पास जाने मे शर्म आती है। कभी-कभी नगे पडे रहते है, इसी से मैं डरती हूँ।

रामसिह—(आह भर कर) क्या करूँ, मै तो बहुत कुछ करूँ पर वह बडी बहू, मझली बहू के काम से फुसत मिले तब न। जहाँ मुझे उन के पास देखा कि कोई न कोई काम बता देंगी। तो बाबू जी कहते है जा रामसिंह, देख क्या कहती है। बस, चला जाता हूँ।

चुनियाँ—अपने हाथ से पानी भी तो नही पी सकते, हाथ इतने काँपते है। अभी सबेरे मैंने पानी का गिलास पकडाया तो गिर गया। सिर पर हाथ रखते हैं तो काँपते काँपते सिर नीचे गिर जाता है, पानी माँगते है तो

आवाज मे जरा भी तेजी नही रहती ।

रामसिह—यही बाबू जी थे जिन की एक तेज आवाज सुनकर घर-भर काप उठता था, सब सहम जाते थे, घर मे घुसते तो सब को साँप सूघ जाता था, कोई सामने पड गया उसी की मानो क्यामत आ गई ।

चुनियाँ—दिनो का फेर है । इसी से कहते है, आदमी को चाहिए नव कर चले ।

रामसिह—(साँस ले कर) हाँ सो तो है ही चुनिया, न जाने मेरा क्या हाल होगा । देख नही रही, पडौस के रईस लाला सुन्दरलाल की क्या हालत हुई कैसे कष्ट मे जान निकली ।

चुनियाँ—बडे कृतघ्न लडके हैं उन के रामसिह ।

रामसिह—सो तो है ही । भोलानाथ बाबू का लडका इतना तेज है कि न माँ को सेंटता है न बाप को, जो चाहता है करता है, मजाल है कोई रोक तो दे ।

चुनिया—प्यार के पले बच्चे ऐसे ही होते हे रामसिह ।

[भोलानाथ और उसकी पत्नी आते है । रामसिह चुनियाँ खिसक जाते हैं ।]

शशी—तुम्हे कुछ ध्यान भी है कि पराई लडकी क्या कहेगी, उस के माँ-बाप क्या कहेगे ।

भोलानाथ—तो तुम अपना एक कमरा खाली कर दो ।

शशी—(**चिल्ला कर**), बस, मेरे कमरे पर दाँत है, जब देखो तब दे दो कमरा, दे दो अपना कमरा । दे दो फिर, मुझे क्या ? (**रोने लगती है ।**) दे दो ।

भोलानाथ—तो क्या चाहती हो, क्या करूँ ?

शशी—करोगे क्या, अपना कमरा दे दो, सामान उठा कर बाहर फेंक दो । मरी मुझे मौत भी तो नही आती । (**रो कर**) भेज दो मुझे मेरे बाप के यहाँ, निकाल दो मुझे ।

भोलानाथ— (**नम पड कर**) तो बाबा बताओ भी कुछ क्या करूँ ?

शशी—नई बहू आई है तो उसे भी तो कमरा चाहिए । सिद्धनाथ के पास सिर्फ एक खाट का कमरा है, बाबू जी जिस कमरे मे गए हैं वह सिद्धनाथ और उस की बहू को दे दो और सिद्धनाथ वाला कमरा बाबू जी को दे दो ।

भोलानाथ—पर वह तो बहुत छोटा है । उसमे सिर्फ एक खाट आती है, एक मेज और एकाध कुर्सी ।

शशी—तो बाबू जी को कौन वहाँ कचहरी करनी है ?

भोलानाथ—पर तुम सोचो तो लोग सुनेंगे तो क्या कहेगे ?

शशी—लोग एक दिन कहेगे तो दूसरे दिन चुप हो जाएँगे और कहेगे तो कहा करें, ज्यादा हेज है तो बाबू जी को अपने घर ले जाएँ ।

भोलानाथ—सोच लो, लोग तुम्हे दोष देंगे।

शशी—पर तुम बताओ आज सिद्धानाथ विचारा अपनी बहू को ले कर कहा रहे ? ऐसा ही था तो बाबू जी मकान बनाते समय सारी बाते सोचते, उसी हिसाब से कमरे बनवाते, अब कौन भोगे उनका किया, हम भोगे ?

भोलानाथ—उन्हो ने तो मकान के पास जो खाली जगह छोडी है वह हमी लोगो के लिए तो। अब उस मे गाय बँधती है, और एक झोपडा है, जिस मे ग्वाला रहता है, और नीम का पेड तो इतना घना है कि दोपहर को तुम्हारे कमरो मे क्या ठडक होगी।

शशी—(ताने से) तो ऐसा करो कि अपना विस्तरा वहाँ पेड के नीचे लगा लो।

भोलानाथ—अच्छा। (सोच कर) कब आ रही हे सिद्धनाथ की बहू ?

शशी—आज नही तो कल, कभी भी आ सकती है। इसलिए कहती हूँ कि आने पर कमरा तैयार मिले, नही तो मुझे ही कमरा देना पडेगा। और जब से बाबू जी नीचे गए हैं तब से चैन है, नही तो पानी-पानी चिल्ला कर हाथ पाँव फुला देते थे।

भोलानाथ—तो ठीक है, बाबू जी को सिद्धनाथ वाला कमरा दे दो, और सिद्धनाथ को बाबू जी वाला (चिल्ला कर) रामसिंह, रामसिंह।

रामसिह—जी बडे भैया।

भोलानाथ—रामसिंह चुनिया को ले कर जाओ और सिद्धनाथ वाले कमरे मे बाबू जी को लिटा दो, और देखो, सिद्धनाथ की बहू आ रही है, सो बाबू-जी के कमरे मे सिद्धनाथ का सामान रख दो।

रामसिह—पर बडे भैया ।

भोलानाथ—(चिल्ला कर), बडे भैया क्या, हाँ क्या कहना है, कह ?

रामसिह—बाबू जी को वह बहुत छोटा रहेगा।

भोलानाथ—अरे, छोटा क्या है उन की खाट ही तो है, बाकी पानी वानी, दवादारू के लिए मेज बस। जा रख दे सब सामान जल्दी।

रामसिह—बडे भैया, तुम मालिक हो पर

भोलानाथ—पर क्या ? जाओ।

शशी—यह रामसिह और एक मुसीबत है (चिल्ला कर) जो काम कहा जाता है करता क्यो नही, तू जा बक-बक मत कर।

रामसिह—जी।

[केदार का प्रवेश]

केदार—इस स्वग मे कही नरक है तो बाबू जी का कमरा। चार बार फिनायल से धुलाने के बाद भी बदबू अब तक नही गई। हॉरीबल। वाइफ कहती है डिस-इनफेक्ट कराओ, तब मैं जाऊँगी। वही सोच रहा हूँ दीवारें भी साफ करानी होगी, ह्वाइटवाश करना होगा, व्हाइटवाश ?

भोलानाथ—बाबू जी को सिद्धनाथ वाले कमरे मे भेज रहा हूँ। वह कमरा छोटा है। एक खाट और एक छोटी मेज उसमे बडे मजे से आती है।

केदार—तो क्या वह खाली हो रहा है, मैं उस मे अपनी किताबे रख दूँ, पढूगा ऊपर।

भोलानाथ—वह कमरा सिद्धनाथ को दिया जा रहा है, उस की बहू आ रही है न ?

केदार—ओह, आई सी। हाँ सिद्धू को भी तो एक कमरा चाहिए वह बडा भी है ठीक रहेगा।

भोलानाथ—अब और उन्हे चाहिए भी क्या, एक खाट की जगह बस। मनुष्य को गुजारे के लिए साढे तीन हाथ जगह चाहिए, वैसे तो चाहे जितना कर लो।

केदार—कब्र मे शायद इससे भी कम

भोलानाथ—हिन्दुओ मे कब्र की जरूरत नही होती केदार, वहाँ तो आखिर इतना भी नही चाहिए, वहा तो जमीन की जरूरत ही नही।

केदार—हिन्दू रिलीजन सचमुच महान् है। आदमी को लेटने के लिए साढे तीन हाथ जमीन की जरूरत है और बैठने के लिए एक हाथ भी मान सकते हैं, और खडे होने पर दो पैर भर, पर मरने पर उतनी भी नही।

भोलानाथ—गुड, तू तो सचमुच दार्शनिक हो गया है।

[रामसिंह आता है। तागे की खड खड]

रामसिह—सिद्धनाथ बाबू आ गए बडे भैया।

भोलानाथ—तो उस को बाबू जी के कमरे मे ठहराओ। बहू आ गई ? वही असबाब रखो।

रामसिंह—हाँ, बहू भी आ गई, बडी वहू वगैरा सब वही है।

[शोर मचता है]

भोलानाथ—यह अच्छा ही हुआ जो पहले से इन्तजाम कर दिया, वरना बडी मुश्किल होती। और बाबू जी को जीना ही कै दिन है, फिर वह कमरा श्याम को दे दूगा।

केदार—मैं सोचता हूँ, गायवाले घर को साफ करा कर कुछ कमरे बनवा लिए जाएँ।

भोलानाथ—मैं भी यही सोच रहा हूँ केदार।

केदार—लेकिन गाय वहाँ नही बँध सकती, मै इसके खिलाफ हूँ। इस से मका साफ नही रहता, बदबू, मच्छर आते हैं।

भोलानाथ—तो गाय को निकाल देंगे।

केदार—काश कि हम लोग जिन्दगी की उपयोगिता जान सकते, उसे ठीक-ठीक समझ पाते।

भोलानाथ—यही बात है केदार, ससार मे मनुष्यो की सख्या इतनी बढ गई

है कि जीते रहना दूभर हो उठा है।

केदार—मशहूर वैज्ञानिक जेम्स जौन्स की बाबत कहा जाता है कि एक बार वे एक बेंक की सीढियाँ उतर रहे थे तो एक खयाल उनके दिमाग मे आया यदि हमारी जमीन से कोई भूला भटका ग्रह टकरा जाय तो

भोलानाथ—अजब मजाक की बात है। उन्हे सीढिया उतरते ही यह खयाल आया। ये तुम्हारे वैज्ञानिक भी बडे अजीब किस्म के आदमी होते हैं।

केदार—आप को मालूम नही है, उन की इह बात से तमाम वैज्ञानिको मे एक हलचल मच गई। लोग सोचने लगे यदि इस पृथ्वी से कोई ग्रह आ कर टकरा गया तो लोग कहाँ रहेगे, कहाँ जाएँगे।

भोलानाथ—तो क्या वाकई कोई ग्रह ऐसा था, या है जो जमीन से टकरा जाएगा।

केदार—११ जून, १९५० की रात को वैज्ञानिको ने बडी-बडी दूरबीनो से देखा कि एक पुच्छल तारा बडी तेजी से हमारी जमीन की ओर आ रहा है। यदि उस की दिशा न बदली या जमीन इस के रास्ते से न हटी तो हमारी यह पृथ्वी ध्वस्त हो जाएगी। धूमकेतु के इस दर्शन ने वैज्ञानिको मे एक नई समस्या पैदा कर दी है।

भोलानाथ—तू गप तो नही मार रहा ?

केदार—मैं सच कह रहा हूँ भाई साहब, वैज्ञानिक इसी खोज मे तब से लगे है।

भोलानाथ—कब तक आ जाएगा वह धूमकेतु हमारी जमीन पर ?

केदार—आ नही जायगा, टकरा जाएगा। फिर सब कुछ समाप्त। लेकिन उस के हमारी पृथ्वी तक आ कर टकराने मे कई हजार साल लगेगे।

रामसिंह—बडे भया, बडे भैया, बहुत बुरा हुआ। श्याम बाबू ने सिद्धनाथ बाबू के कमरे पर कब्जा कर लिया, अपनी किताबें, मेज, कुर्सियाँ ला कर रख दी हैं।

भोलानाथ—और बाबू जी ?

रामसिंह—उन की खाट बाहर कर के मैंने वह पहले सिद्धनाथ बाबू को दिया जाने वाला कमरा साफ किया, फिर जब मैं उन का कमरा जो बाबू जी को दिया जाने वाला था, धो कर इधर-उधर काम मे लग गया, कि सूखने पर उन की खाट वहाँ डाल दूगा तो इसी बीच मे क्या देखता हूँ कि श्याम बाबू ने वह कमरा हथिया लिया है।

केदार—श्याम को इतनी जल्दी कमरा नही चाहिए, उसे इन्तजार करना चाहिए।

भोलानाथ—फिर बाबू जी कहाँ हैं ?

रामसिंह—वह बाहर आँगन मे हैं, राम बाबू उन के पास बैठे है।

भोलानाथ—वे नाराज तो नही है।

रामसिंह—नहीं, हँस-हँस कर उन से बाते कर रहे हैं। जब सिद्धनाथ बाबू की

बहू ने आ कर उन के पैर छुए तो खुश हो कर आशीर्वाद दिया और खाट पर लेट गए, उस के बाद एकदम वे अपने मे डूब गए ?

भोलानाथ—तो ऐसा करो, तब उन की खाट नीम के नीचे घेर मे डाल दो।

रामसिंह—खुले आसमान मे बडे भैया ?

केदार—क्या हर्ज है ? रवीन्द्रनाथ तो खुले आसमान के नीचे बैठ कर छात्रो को पढाने के पक्ष मे थे ?

भोलानाथ—जब तक कोई इन्तजाम नही होता तब तक नीम के नीचे घनी छाया मे उन की खाट बुरी नही रहेगी। क्यो केदार ?

रामसिंह—श्याम बाबू को जरा डाँट देते तो वह कमरा उन्ह दे देता सरकार ?

भोलानाथ—वह लडका जिद्दी है, कहना पडेगा। खैर तुम ऐसा करो, बाजार जा कर एक कनात ले आओ, खाट के चारो ओर लगा दो, वही फिलहाल ठीक रहेगा। अरे रोता क्यो है, जा जो कहता हूँ सो कर।

रामसिंह—(आँसू पोछ कर) बडे भैया

केदार—स्टुपिड, यह नही जानता कि वन हू गिव्स अप मोस्ट, सर्व्स बेस्ट जो अधिक त्याग करता है, वही फायदे म रहता है। (शशी आती है)

शशी—(दौड कर) मैं कहे देती हूँ, लडके का मन न तोडना, उस ने सिद्धनाथ के पहले कमरे मे पढने का सामान रख लिया है।

भोलानाथ—तुम बेफिक्र रहो शशी, मैं ने फिलहाल बाबू जी का इन्तजाम कर लिया है। उन की खाट नीम के नीचे डलवा दी है। उस की छाया मे उन्हे कोई कष्ट नही होगा। सबसे बडी बात है आदमी को आराम मिलना चाहिए, जहाँ भी मिले, क्यो केदार ?

केदार—बेशक, किसी दार्शनिक ने कहा है जो कल करो उस की तैयारी आज से शुरू कर दो, काम ठीक होगा।

भोलानाथ—बिलकुल, बिलकुल ! फिर एक बात है नीम के पेड के नीचे रहना स्वास्थ्य के लिए बडा अच्छा है। कहते है नीम नीचे रहने वालो की उम्र बढ जाती है, बीमारी पास नही फटकती।

केदार—मुझे कोई ऐतराज नही है। सब से बडा फायदा तो यह है कि उन्हे आगे ले जाने मे अब ज्यादा सहूलियत होगी।

भोलानाथ—(भविष्य की ओर देखता सा) हाँ, और क्या ! चलो देखा जाए।

[चले जाते है।]

प्रो० माधवी प्रसाद : एक रेखाचित्र

सस्कृत मे एक कहावत है—मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती' यानी हर खोपडी, एक दूसरे से अलग होती है और प्रत्येक की जीभ पर अलग सरस्वती होती है।' यह बात कितनी सच है इस का निर्णय करने के लिए दूर जाने की जरूरत नही है। इस ससार मे जितना फितूर आप पाएँगे वह साढे तीन हाथ के माँसपिंड मे नही, उस के भीतर की औंधी सीधी खोपडी मे है। कुछ आदमी खजूर के पेड से सिधे होते है और कुछ चारो गाँठ कुम्मेत गूलर से, और कुछ बड की तरह इधर उधर फैलेगे, आकाश की तरफ भी उठेंगे और अपनी जटाएँ जमीन मे भी गाडे रहेगे। यानी सब तरह जहाँ से भी जो कुछ भी मिल जाए। उन की दृष्टि बगले की तरह, नाक चींटी की तरह और कानो के नाम वे लोग चौकन्ने अर्थात् चार कान वाले। जो गाय की तरह गर्दन झुका कर खा लेंगे और शुतुर मुग की तरह अकड कर चलेगे। और बिना बोले, चिल्लाए, भौंके, अजनबी की टाँग का माँस बुलडाग की तरह उडा लेंगे। वस्तुत मनुष्य को वे सब गुण परम्परा से प्राप्त हुए हैं। मुझे लगता है हमारे माधवी प्रसाद के गुणो मे ये सब बाते तो थी ही, और भी कुछ थी। आदमी मै कोई अन्तर्द्रष्टा तो हूँ नही, एक्सरे मशीन भी नही हूँ जो भीतर नसो, हड्डियो को परख सकू। एक छोटा सा प्राणी हूँ। 'मति-अनुसार करऊ गुन गाना।'

हाँ, तो मौके पर हाथी को चीटा और घर के कुत्ते को शेर बनते सब ने देखा होगा, कि तु हमारे चरित नायक यदि हाथी थे तो चीटी भी, शेर भी और कुत्ते भी। लोमडी से उन्हो ने दीक्षा ग्रहण की थी, सप से वक्रता, ऐसे थे प्रोफेसर माधवी प्रसाद।

माधवी बाबू उन लोगो मे से थे जो समझते हैं कि हम एक विशेष मिशन को पूरा करने के लिए ससार मे जन्म धारण करते है। यदि ऐसा न हो तो ससार कहाँ टिके, साहित्य की श्री-समृद्धि, उस का प्रचार कैसे हो? उपन्यासो के लिए पात्र कहाँ मिले? जनता बिना नेता के रसातल को न चली जाय? जी हाँ, मैं बिलकुल ठीक कह रहा हूँ। आज उन की आत्मा कहाँ विचरण कर रही है, किस भूभाग मे रहकर अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सलग्न है, यह मैं नही जानता किन्तु उन का पिछला इतिहास इतना ज्वलन्त है, इतना प्रकाशमान् है

कि उन के जीवन की नाप-तोल उसी से काफी हो जाती है। चिनगारी तो छोटी ही होती है न ? उसी से आप समझ लीजिए कि वह व्यक्ति कोई साधारण नही था और साधारण से ही तो असाधारण जन्म लेता है। उन्होने अपने जीवन से यह असिद्ध कर दिया था कि पूत के पैर पालने म ही दीख जाते हैं। उन के सम्बन्ध मे जो कुछ मालूम हुआ वह इतना ही कि, वे किसी बैंक के चपरासी की सतान थे, जो पूर्व से आ कर वहाँ बस गया था। बचपन मे खेलने-कूदने खाने के बाद उनके पिता ने पान की दुकान करा दी। जहाँ पान की दुकान उन के पिता माता के लिए आमदनी का जरिया थी वहाँ उन के लिए वरदान भी। धीरे-धीरे उन्होने शास्त्रज्ञान प्राप्त किया। किस्सा तोता मैना, किस्सा चार यार, सिंहासन बत्तीसी, आल्हा-ऊदल की सीढिया पार कर के वे प्रोफैसरी के प्रासाद की बुर्जी तक जा पहुँचे।

उन्होने कोई परीक्षा पास की या नही, किसी स्कूल मे पढे या नही, इस की कोई रेखा उन के भाग्य मे किसी ज्योतिषी को खोजने पर भी नही मिली। बस वे खुद कहा करते कि उन्होने 'विद्यानिधि' की कोई डिग्री पाई है। विद्या निधि कहाँ की परीक्षा है, कौन सी यूनिवर्सिटी मे उस का कोस पढाया जाता है इस की खोज अभी तक नही हो पाई। हाँ, इतना ज्ञात हो सका कि छ-सात मास नगर से बाहर अवश्य रहे, हो सकता है वे उन दिनो अपनी माँ के या बाप के पुराने घर मे जा कर रहे हो। लोगो का कहना है उन्होने जेल की किसी कोठरी को छ मास के लिए कृतार्थ किया था। किन्तु छ-सात माम के बाद एक दिन विद्यानिधि की उपाधि से विभूषित उन का काड छप गया। अंग्रेजी और हिन्दी दोनो मे। और प्रोफेसर की उपाधि तो जैसे अपने आप आ कर लग गई हो। वे कहा करते, जैसे व्याह के बाद पुरुष की पति सज्ञा हो जाती है इसी तरह विद्यानिधि के बाद प्रोफेसर शब्द का जुड जाना स्वाभाविक है। वे इस स्वाभाविकता के बहुत कायल थे। मैं ऐसे कई लोगो को जानता हूँ जिन्होने एक दिन भी किसी कालेज की शक्ल भी नही देखी फिर भी वे प्रोफेसर के नाम से मशहूर हो गए। उस दिन जब मैंने उत्सुकता-वश उन के मित्र से पूछा तो मालूम हुआ कि कुछ मित्र उन्हें सदा प्रोफेसर कह कर पुकारते हैं, बस, हिन्दी मे भी ऐसे प्रोफेसरो की कमी नही है जो दो दिन किसी जगह इतिहास पढा कर सदा के लिए प्रोफेसर बन गए है। वैसे तो जब 'डाक्टर आफ टेलरिंग' प्रोफेसर बाबूलाल बाखर और हर दर्जी को मास्टर कहते सुनता हूँ तब प्रोफेसर शब्द के प्रति उतनी उत्सुकता नही रहती। फिर भी विद्यानिधि माधवी प्रसाद नाम के साथ प्रोफेसर शब्द जुडा देख कर किसी को भी उत्सुकता हो सकती है, वही मैं कह रहा हूँ। प्रोफेसर माधवी प्रसाद ने उन छ-सात महीनो के गैप के बाद एक कालिज खोल दिया जिस मे हिन्दी रत्न, हिन्दी भूषण और प्रभाकर की पढाई होती थी। कालेज की पढाई के बाद वे प्राइवेट ट्यूशन करते। अब उन के प्रोफेसर होने पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?

यही उन का पिछला इतिहास है जो मै मानता हू उनके आगे के जीवन के लिए काफी प्रकाशमय है। दिन रात हिन्दी के प्रचार का गहन ध्येय बना रखने वाले माधवी प्रसाद कभी साहित्यिको को बुलाकर उनका व्याख्यान कराते, कविता पाठ होता, गोष्ठियाँ जमती और शैशव तथा यौवन के बीच फूलने वाली छात्राओ मे नई ठमक जमाने के साधन जुटाए जाते या यो कहिए उनमे सेक्स साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न की जाती। उन्ही दिनो माधवी प्रसाद के मुझे भी एक दिन दर्शन करने का सौभाग्य मिला। सौभाग्य ही कहना चाहिए, क्योकि जाति वाचक सज्ञा के सागर मे व्यक्ति-वाचक गज-ग्राह की तरह छायावादी कविता के 'टुल टुल मुल मुल' एक कवि के साथ वे मेरे घर पधारे और कुर्सी पर बैठते हुए उन्होने जो विशेष लहजे, अद्भुत स्वर भगी से परिचय दिया उसे सुन कर पितरो के सम्बन्ध मे तो नही कहता, मेरी आत्मा जरूर बहुत-कुछ तप्त हो उठी। और उत्सुकता ने प्रति पल पख पसारने और समेटने शुरू कर दिए। प्रोफेसर जो बोले उस मे देशभक्ति, साहित्य-जागरण, हिन्दी-प्रचार, ललित-कला, विकास तथा विलास के सोते फूटने लगे। मालूम होता था पूरा का पूरा बाबू गुलाबराय का कोई निबन्ध याद कर के वे चले ही आ रहे हो। बिना यति, विराम, कौमा, फुलस्टाप के वह भाषण सुन कर मैं तो सचमुच सिर खुजाने लगा। मै उन की तरफ विस्मय से नेत्र फाड कर ऐसे देखने लगा जसे कोई बालक जादूगर का खेल देख रहा हो। जी, म ठीक कह रहा हूँ। जैसे अजायबघर का कोई विचित्र जन्तु आ गया हो। मै हैरान था, यह महाशय बात कर रहे है या कोई लेख पढ रहे है ? आखिर क्या तमाशा है, हार कर दो-एक बार मैने बीच मे टोका भी, किन्तु पूरे पन्द्रह मिनट बाद उन की गाडी बिना सिगनल के स्टेशन पर जा कर रुकी। मैने पूछा—आप कोई निबन्ध पढ रहे थे।

मेरे बात करने का ढग ही ऐसा है, उस दिन पडित रामचन्द्र शुक्ल ने मेरी बातचीत सुन कर मुझे आश्वासन दिया कि इस बार किसी हिन्दी प्रो० की जगह खाली होने पर वे मुझे हिन्दी विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर का स्थान दिलाने का यत्न करेंगे। उन्हे चाहिए तो यह था कि वे अपना स्थान ही तब तक खाली कर देते—मैने गम्भीर हो कर कहा। 'आप मजाक समझते है ? मैने प्रयाग विश्वविद्यालय मे भी भाषण दिया है। यह ठीक है कि मे एम० ए० पास नही हू। इस के साथ ही उन्होने अग्रेजी परीक्षा की बुराई पर एक लम्बा निबन्ध बोलना आरम्भ कर दिया। मैं इस के लिए सचमुच तैयार नही था। पहला भाषण ही मेरे प्राण निकालने को काफी था। मैंने बीच मे ही कहा—ठहरिए, ठहरिए, आप तो मजे हुए रिकार्ड की तरह बोलते हैं। क्या आप जब बोलना प्रारम्भ करते है तो ऐसा ही बोलते है ? "विद्वानो के सामने तो अवश्य। बात यह है, मेरी वाणी पर स्वय भावराशि शब्दो के साथ उछलने लगती है।"

खूब, यह भाव राशि का उछलना भी खूब है। फिर भी आप से कहूँ मुझे वह आदमी बुरा नही लगा। मैंने सोचा यह भी खूब है जो इतने निबन्ध रटे बैठा है। और मेरे उपर भले ही कोई विशेष प्रभाव न पडे। अन्यथा साधारण आदमी पर तो यह अवश्य प्रभाव डाल लेगा। इसके साथ ही उन्होने अपनी पाठशाला को भूल कर, कालेज का जिक्र किया। बताया छात्राओ की इतनी सख्या है कि स्थान नही है और हर रोज पन्द्रह बीस छात्राओ को लौटाना पडता है। केवल हिन्दी प्रेम ही के कारण यह सब हो रहा है। मेरे तो जीवन का ध्येय ही हिन्दी का प्रचार है।

मैं ने तारीफ करते हुए कहा—यह आप बहुत बडा काम कर रहे हैं। यह सब कहते हुए तो मैं कह गया किन्तु उस आदमी की चपल आँखे, जिन मे शरारत, गुस्ताखी भरी हुई थी, देख कर मुझे भ्रम होता, कही यह महाशय कोई गुल न खिलाए। फिर भी मैं ने दबे मुँह उस की काफी प्रशसा ही की। इस के साथ ही उस ने कैरावान का सिगरेट का डिब्बा निकाला और सिगरेट पीने लगा। उसके धुँआ उडाने का ढग देख कर मालूम होता था कि वह सारे ससार को अपनी लापरवाही से धुएँ की तरह उडाने की शक्ति रखता है। कुर्सी पर बैठे हुए उस की एक टाँग बराबर हिल रही थी। उसके साथ जूता चर्रा रहा था। वह रह-रह कर अपनी नीलम की अँगूठी को सीधी करता। मूछो पर ताव देता तथा उनकी नोको को मरोड कर और तीखा बनाता। रह रह कर खकारने के बहाने वह मुझे घूरता सा नजर आता। कभी कुर्सी के पीछे की पीठ पर बाँह रख कर और भी अकड-सा जाता। उस समय गदन और भी सीधी हो जाती। गले का कोआ ठीक सामने बन्दूक सी ताने दिखाई देता। उन बीस-पच्चीस मिनट के बीच मे मुझे लगा यह व्यक्ति लोगो को बेवकूफ बनाने मे अवश्य बहुत चतुर दिखाई देता है। जितना ही वाणी से वह हिन्दी प्रचार, हिन्दी प्रेम की दुहाई देता उतना ही उस की आँखो की पुतलियो की चचलता बढती जाती। कभी कभी मालूम होता यह आँखो से तमाम भीतर के भावो को पढना चाह रहा है, जैसे तैसे दूसरे दिन होने वाले उत्सव का निमन्त्रण देकर वह विदा हुआ। मै बहुत देर तक उस के सम्बन्ध मे सोचता रहा। प्रत्येक आदमी मे उस का अपना व्यक्तित्व होता है, अपने बोलने, बातचीत करने, उठने-बैठने, अगभगी द्वारा अपने भाव प्रदर्शित करने का एक ढग होता है, जो उस के शरीर की बनावट उस के वातावरण, उस के समाज से सम्बन्ध रखता है। उस का साँवला रग, चेचक के हल्के दाग, लम्बा मुँह उभरी ठोडी, उठी हुई नाक, पतली भौहे और लोमडी सी चपल आखे थिरकते हाथ-पैर, साधारण आदमी के लिए एक अजूबा थे। जिस समय उस प्रोफेसर को मैं ने देखा तो लगा यह कोई स्वार्थ परायण व्यापारी होगा। कमीज के सोने की जजीर वाले बटन, खडी कालर वाली कमीज यह उस की व्यापार परायणता का परिचय दे रहे थे। इधर हिन्दी प्रचार, रटे हुए निबन्धो द्वारा सधी

हुई भाषण शैली से ज्ञात होता था यह अवश्य परोपकार की वह्नि मे दग्ध पूतात्मा होगा। खैर, दूसरे दिन का उत्सव हुआ। मैं भी गया। समारोह कोई बडा तो न था, किन्तु कविता पाठ, नृत्य, सगीत, भाषणो से वह जरूर कुछ बुरा नही था। उस समय प्रोफेसर की तत्परता देखने योग्य थी। नम्रता कायसवाहन की दृष्टि के अनुकूल थी। गिडगिडा कर बात करते देख कर मुझे लगा सचमुच यह एक महान् ध्येय का व्यक्ति है। समारोह समाप्त हुआ। सभी आगतुको ने प्रशसा की मुझे भी कुछ बोलने को मजबूर किया गया। मै बोला और मै ने भी उक्त सस्था, उसके सचालन के ध्येय की प्रशसा की। बात आई गई हो गई। एक दिन शाम का समय था, गर्मी के दिनो मै पखा चला कर कुछ पढ रहा था कि, वह प्रोफेसर आ गया। बिना सूचना दिए उस का इस तरह छिपे-छिपे आना कुछ बुरा तो लगा पर वह सामने ही आ गया तो कहता भी क्या चुप हो कर उस का मुंह ताकने लगा। वह निश्चित हो कर मेरे पास बैठ गया और बडे आश्वासन के साथ बोला—आप जानते हैं वे आए हैं। सरकार का उन के नाम वारन्ट है। बडे छिपे छिपे फिर रहे है? इस समय मेरे कालेज मे हैं? उसके बाद धीरे से उनका नाम बता दिया। मै चौका। मैने पूछा, फिर?

अब आप जानें। मै ने तो समझा था कि आप उन की सहायता अवश्य करेंगे। इस के साथ ही उस के मुख पर उदासी छा गई। फिर कर बोला—मै तो प्राण दे कर भी उनकी रक्षा करूंगा। इधर मैने उन के लिए कुछ कपडे भी सिलवाए है।

फिर आप मुझ से क्या चाहते हैं? मैने भाव जानने की दृष्टि से पूछा।

रक्षा, ताकि वे भी बचे रह सकें।

उसे मालूम था, आस पास कुछ ऐसे स्थान है जहाँ वे मजे मे रह सकते हैं और उन की बाबत शायद इसी से उस ने सुना होगा। यह भी सुना होगा कि मै उन स्थानो से सम्बन्धित रहा हूँ। सरकार की तीव्र दृष्टि मेरे ऊपर भी काफी दिनो तक रही है। फिर भी एक अजनबी को वे सब भेद देना अनुपयुक्त था। यह सोचकर मै उसके साथ गया। और एकान्त मे उस क्रातिकारी से बाते करता रहा। उसी से ज्ञात हुआ। इस व्यक्ति ने आशा से अधिक उनकी सहायता की है। मैं ने उनको यथास्थान पहुँचा दिया। और इसके साथ ही मेरी धारणा का स्रोत माधवी प्रसाद की तरफ और भी शुद्ध हो गया। मैं ने उस के त्याग, साहस की प्रशसा की। मुझे यह देखकर और भी सुख हुआ कि उस ने दो सौ से ऊपर रुपया भी इकट्ठा कर के मुझे दिया ताकि मै उक्त सज्जन को पेशावर से आगे जाने का प्रबन्ध भी कर सकूं। वह सब मैने धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया। और जैसे-तैसे उसकी व्यवस्था की। निश्चय ही माधवी प्रसाद का यह काम अभिनन्दनीय था। इससे मै उसकी नीयत के सम्बन्ध मे बेफिक्र हो गया। उसके स्कूल की लागबुक मे मैने उसके त्याग, लगन और ध्येय की प्रशसा की जिसका उसने काफी प्रचार किया।

एक दिन सुना वह परीक्षार्थिनी कन्याओ से „रुपया उगाह कर उन्हे पास कराने के लिए काशी की तरफ गया है, परीक्षको से मिलने। यह उस का काम मुझे अखरा तो सही, किन्तु मै ने विशेष ध्यान नही दिया। इधर मैं अपने कामो मे लग गया। बहुत दिनो तक उस के सम्बन्ध मे कुछ भी सुनाई नही दिया। अब भी मेरी निगाह मे वह बहुत अच्छा आदमी था। जो लोग उसके सम्बन्ध मे इधर-उधर की बाते करते तो मैं उसकी तरफ से बोलता। उस की तारीफ करता।

एक दिन उस के एक प्रतिद्वन्द्वी ने आकर खबर दी कि प्रोफेसर माधवी प्रसाद को करारी मार पडी है।

क्यो ? ऐसी क्या बात हुई !

उस ने एक लडकी से प्रेम की भिक्षा माँगी थी। लडकी ने अपने पिता से कह दिया। इस पर उन्हे घर पर किसी बहाने बुलाकर उस लडकी के रिश्ते-दारो ने मारा और बेहोशी की हालत मे ही उसके घर के दरवाजे पर पटक गए। रात भर पडे रहे। सबेरे पता लगा। तब जाकर उसे अस्पताल ले गए।

मुझे दुख तो हुआ किन्तु मै चुप रहा। मै प्रोफेसर को देखने भी गया। यथाशक्ति उस की सहायता की। फिर भी मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरी समझ कर मै चुप रहा। वैसे, मुझे विश्वास नही था, क्योकि प्रोफेसर के घर मे दो बच्चे और सुन्दर पत्नी थी।

कुछ दिन बाद सुनने मे आया कि माधवी प्रसाद ने पाठशाला बन्द कर दी और वह घर चला गया है। साथ मे कुछ लोगो से रुपया उधार भी माँग ले गया है। कुछ मेरी बहुमूल्य पुस्तकें भी थी, जो मैने उसे पढने को दी थी। फिर भी मै ने उस के पाठशाला बन्द कर देने का अर्थ यह लगाया कि यह सब अप्रतिष्ठा के कारण उसने किया है। सभवत रुपया उस समय पास न रहा होगा, इसीलिए बिना भुगतान किए चला गया है। मै ने उस की तरफ से लोगो को आश्वासन देते हुए कहा—कि रुपया तुम्हारा मारा नही जा सकता। वह आदमी ऐसा नही है।

हाँ, मुझे अपनी किताबो का अवश्य दुख रहा।

एक दिन प्रात काल देखता क्या हूँ कि मैले कपडे पहने वह एक मामूली बिस्तर के साथ चला आ रहा है। आकर वह मेरे सामने खडा हो गया। बडा उदास, पीला मुदना चेहरा। अशक्त और नि वीर्य। नेत्रो से जैसे ज्योति ही चली गई हो। मानो महीनो से बीमार हो। मै ने उसे देखा तो चिन्तातुर होकर कई प्रश्न किए किन्तु उसने कोई उत्तर नही दिया। केवल इतना ही कहा—मै इधर कई मास से बीमार हूँ। स्वास्थ्य सुधारने शाम की गाडी से काश्मीर जा रहा हूँ। मुझे एकान्त चाहिए।

मै ने उसे ऊपर के कमरे मे ठहरा दिया। नहाने, धोने, खाने का प्रबन्ध भी कर दिया।

इधर मैं किसी काम से बाहर चला गया। दो ढाई घंटे बाद लौटकर आया तो सुना—माधवी प्रसाद चुपके से अपना सामान उठाकर चला गया है। पत्नी ने कहा—इसके भीतर कोई बडा दु ख है। मैं चुप हो गया। मुझे बडा खेद हुआ। मैं सोच रहा था, काश्मीर जाते हुए इसे अपने गरम कपडे दे दूँगा। कुछ रुपए भी देने की बात मैंने सोच ली थी। पर वह तो चोर की तरह चुपचाप भाग गया। बात क्या है? ऐसी भी बीमारी क्या है? मैं बहुत देर तक उसके सम्बन्ध मे सोचता रहा। उस के बाद मैंने स्नान किया। भोजन करके अखबार पढ रहा था कि नौकर ने आकर खबर दी, कुछ आदमी मुझे नीचे बुला रहे हैं। जाकर देखा तो वे पुलिस के आदमी थे। माधव प्रसाद की तलाश मे आए थे। उन से मालूम हुआ कि दो दिन हुए उस ने एक नवयुवती विवाहिता की हत्या कर दी है। हम उसी की तलाश मे हैं।

हत्या?

यह शब्द सुनकर तो जैसे मैं विस्मयापन्न हो गया।

मैंने उन्हे उस के आने, ठहरने, और चुपचाप चले जाने आदि की सब बातें बता दी। पुलिस वाले लौट गए।

मैं चुप था। फिर भी मेरी आखो के आगे उस का विकृत चेहरा, उस का दु साहस और उस के पिछले काम, नाच रहे थे। मानो कह रहा हो, तुम कितने मूख हो जो मेरी बातो मे आ गए।

नवीन और प्राचीन

पिछली नागपचमी को मेरा जन्म-दिन था। किसी तरह मेरे एक साहित्यिक मित्र को मालूम हो गया। वह बडी फुसत से आ कर बैठ गए और लगे बधाई देने। मैंने उत्तर मे कहा—"इस मे बधाई देने की क्या बात है ? क्या आप नही मानते कि जीवन की माला का एक मनका निकल कर टूट गया ? इसमे न तो आश्चय की कोई बात है, न दु ख की ही। और हष का तो कोई कारण ही नही दीखता। कदाचित् जन्म-दिवस मनाने की प्रथा पश्चिमी लोगो मे है। हाँ एक बात है कि प्रतिवष हम नए-नए अनुभवो का जो सग्रह करते हैं, वह एक अमूल्य वस्तु है, जो हमे नए मार्गों का प्रदर्शन कराती है।"

उन्होने पूछा—"आप ने अपने अनुभवो मे क्या वृद्धि की ?"

इसका उत्तर इतना सरल न था और मै एकदम कहता भी क्या।

मित्र बोले—"आप तो साहित्यिक हैं, साहित्य और साहित्यकारो के सम्बन्ध मे कुछ बताइए। आप को तो बडा अनुभव है।"

मैं चुप हो गया। साहित्य तो निश्चय ही बहुत आगे बढ गया है। उस ने व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र की सीमाएँ नापकर मनुष्यता के पास तक पहुँचने का दावा उठा लिया है। किन्तु साहित्यकार कितना आगे बढा है, यह प्रश्न विचारणीय है। यही मै सोचता रहा।

मैं ने कहा—"साहित्य को तो निश्चय ही पहले से अधिक व्यापाक रूप मिल गया है, ऐसा आप मानेंगे।"

वह बोले—"साहित्य पर तो प्रतिदिन पत्रो मे चर्चा होती ही रहती है, हम साहित्यकार के सम्बन्ध मे आप से कुछ सुनना चाहते है।"

मैं ने उत्तर दिया—"नियम तो यह है कि यदि साहित्य व्यापक हुआ है, तो साहित्यकार को उसी अनुपात से विशाल और उदार होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही है। जितना ही साहित्य बहुमुखी हुआ है, साहित्यकार का ज्ञान तो अवश्य उतना व्यापक हुआ है, पर आचारगत सहृदयता उतनी विशाल नही हो पाई है। मुझे ज्ञात है, जब मै बीस-बाईस वष का था, या इस से कुछ अधिक उम्र रही होगी, उस समय तक मेरी दो चार कविताएँ ही पत्रो मे निकल सकी थी और दो-एक लेख भी। लेख निश्चय ही महत्त्व के थे। एक लेख तो द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' मे 'साख्यदशन' के ऊपर निकला था। इस से तत्कालीन बहुत से लेखको की निगाह मे मै उभर उठा था। उन

दिनो अचानक बम्बई जाना पडा। वहाँ 'वैंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक श्री लज्जाराम मेहता से भी मिला। वह वयोवृद्ध अनुभवी लेखक थे। पहले तो मुझे बडा सकोच हुआ। किन्तु उनसे मिलने पर तो ऐसा लगा, जैसे वह मेरे अपने हो। बडे स्नेह से मिले। शाम को घर ले गए। भोजन करने को बाध्य किया। कार्यालय से अवकाश पाने पर मुझे अपने साथ घुमाने भी ले गए। कहाँ मै एक साधारण युवक और कहाँ वह "वैंकटेश्वर समाचार" के सम्पादक। किन्तु उन के स्नेह को आज भी जब मै याद करता हूँ, तो लगता है, मनुष्यता के नाते यह व्यक्ति कितना महान् था। कभी-कभी उन के मुँह से अचानक निकल जाता—"तुम लोग हमारे हिन्दी-साहित्य के नए कर्णधार हो।" यह स्नेह, यह अपनापन उन दिनो प्राय सवत्र बिना माँगे सब को मिला करता था। हिन्दी के लेखक—सम्पादक परस्पर ऐसे मिलते, जैसे सगे सम्बन्धी हो। अत्यन्त गाढ मित्रता, परिचय की आवश्यकता नही थी, केवल हिन्दी का लेखक या कुछ भी हिन्दी मे लिखने वाला होना चाहिए। भोजन, निवास, सत्कार तो इतनी साधारण चीज थी कि उस के लिए कदाचित् कुछ कहने की आवश्यकता ही न थी। चिरगाँव मे गुप्त-बन्धुओ के द्वारा साधारण-से-साधारण लेखक को इतना सम्मान मिलता रहा है कि उसे यह विचार भी नही हो सकता था कि वह राष्ट्रकवि के निवास-स्थान पर है। वहाँ पहुँचने पर आप के भोजन, निवास, सुख, सुविधा सबकी चिन्ता स्वय गुप्त जी करते थे।

"अब से पन्द्रह बीस वष पूर्व की बात है। अचानक किसी कायवश मुझे लखनऊ जाना पडा। मालूम हुआ, 'निराला' जी यही-कही भूसा मण्डी मे रहते हैं। इच्छा हुई, जाकर उनसे मिला जाय। गगा पुस्तकमाला से एक कमचारी को लेकर गर्मी की दोपहरी मे मैं उन से मिलने चल दिया। उस समय तक मेरा उन से साक्षात्कार नही हुआ था। नीचे से दरवाजा खटखटाने पर ऊपर से ही आँख मलते 'निराला' जी ने देखा। कर्मचारी ने मेरा नाम बताया। वह तुरन्त नीचे उतर आए और मुझे अपने साथ ऊपर ले गए। कमरे मे एक चटाई और जमीन चूमती हुई एक खाट पडी थी। मालूम होता था, उसी खाट पर 'निराला' जी सो रहे थे। मैं ने अनवसर मे आकर उन के आराम मे बाधा डालने की क्षमा माँगी और चटाई पर बैठ गया। 'निराला' जी ने हाथ पकड कर स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—"साहित्यिक बन्धु क्या हर समय मिलते हैं? इसके साथ ही मुझे बैठाकर वह नीचे गली मे दौड गए और थोडी देर मे गुड का शरबत बना लाए और मुझे पिलाया तथा आप पिया। इस के बाद साहित्य-चर्चा हुई। उस दिन रात तक मै उनके साथ रहा और रात को मेरे ठहरने के स्थान तक आकर वे मुझे विदा कर गए।

पुराने समय के अनेक ऐसे अनुभव हैं, जिन को स्मरण कर आज भी मन पुलकित हो उठता है। उस समय प्रत्येक साहित्यिक अपने बडप्पन को दूर

रखकर एक दूसरे से प्रेम से मिलता था। मुझे याद है, जब मै पहली बार काशी मे स्वर्गीय प्रसाद जी से मिला, तो वह तेल लगा कर नहाने जा रहे थे। करीब बारह बजे का समय होगा वह मिले, तो बातचीत मे सब कुछ भूल गए दो-ढाई घण्टे तक बैठे बातें करते रहे। मेरे साथी प्रवासीलाल जी वर्मा ने दो-एक बार उठने का उपक्रम किया, तो हाथ से झटक कर बैठा दिया और बातें सुनाते रहे। फिर शाम को बुलाया। उन दिनो कदाचित् उन्होने 'कामायनी' लिखना प्रारम्भ ही किया था। यही नही कि उन्होने ही सुनाया हो, मुझसे भी सुना और उस की प्रशसा भी की। मुझे स्मरण है, जीवन मे ऐसे क्षण, जो भी आए हैं, उन का महत्व किसी प्रकार भी कम नही है साहित्य की सृजन-प्रेरणा ऐसे ही लोगो से मिलती है। और मैंने जो कुछ भी टूटा-फूटा लिखा है, वह ऐसे बन्धुओ की प्रेरणा से ही।

"मैं यह नही कहता कि उन दिनो के सभी साहित्यकार ऐसे थे और आज के सभी उस से विपरीत। किन्तु एक बात तो उस समय अवश्य थी वह था साहित्यकार का सम्मान। यदि आप का विरोध भी होगा, तो उस मे भी शिष्टता की मात्रा रहेगी। उस मे भी एक प्रकार का आदर-भाव रहेगा। आज इस का बहुत कुछ अभाव हो गया है। यदि आज के नवयुवक साहित्यिक से आप का मत नही मिलता, तो यही नही कि वह आप के सामने अपना विरोधी मत प्रदर्शित करे, वह उपहास-व्यग द्वारा और कभी-कभी सारे वर्ग को गाली देकर अपनी भडास निकालेगा। मत-भेद उस समय भी थे, किन्तु उनके प्रदर्शन की एक सीमा थी, शिष्टता का एक तकाजा था, जिस की रक्षा करना प्रत्येक लेखक अपना कर्त्तव्य समझता था। मैं यह मानता हूँ, आज के लेखक के सामने सघर्ष अधिक है, अभाव अधिक उग्र है। प्राचीन और नवीन मे विचारो का भी कोई साम्य नही है। नवीन लेखक समझता है, उसे प्राचीन को समूल विध्वस करके नवीन का निर्माण करना है। यह सब कहाँ तक सत्य है, मैं इस सम्बन्ध मे कुछ न कहते हुए केवल यह कहना चाहता हूँ कि हम मतभेद होते हुए भी अपने-अपने विचारो के अनुसार आपसी सद्भावना का एक ध्येय लेकर तो चल सकते हैं। यदि उसी को लक्ष्य मे रखकर व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु हो सकें, तो भी हम मे परस्पर सद्भावना बनी रह सकती है वैसे मैं तो मानता हूँ कि मानव कल्याण-भावना को लेकर चलने वाले साहित्यिक मे इतना चरित्र-बल तो होना ही चाहिए कि वह जो कुछ साहित्य मे, देना चाहता है, अपने भीतर भी उसकी परीक्षा कर देखे। जीवन मे व्यवहार मे जो वस्तु नही है, उसे उधार लेकर यदि साहित्यिक देता है, तो क्या उस साहित्य मे इतना बल होगा कि वह पाठक पर अपना स्थायी प्रभाव डाल सके ? कम से कम मेरा ऐसा मत है कि हमारे लेखको मे उतना बल अवश्य होना चाहिए। कुछ लोग मान सकते हैं कि साहित्यिक को उन सब बातो की आवश्यकता नही है, जो वह अपने साहित्य द्वारा देते है।

पश्चिम और पूर्व मे ऐसे भी साहित्यिक हो चुके हैं, जो कई तरह से महान् थे, किंतु चरित्र की दृष्टि से वे बहुत निर्बल और साधारण लोगो से भी गए-बीते थे। मिल्टन, दाँते, बायरन, स्विफ्ट, कीट्स आदि का नाम लेकर कहा जा सकता है कि चरित्र की दृष्टि से वे गिरे थे। किन्तु मैं चरित्र का अर्थ सदाचार मे नही ले रहा हूँ। वह चरित्र की दृष्टि से मानवता से सम्बन्ध रखती है। मेरी दृष्टि मे तो केवल मानव भावना से तात्पर्य है। उसी असाधारणता की ओर मेरा संकेत है, क्योंकि असाधारण चीज के लिए असाधारण प्रतिभा की जरूरत है फिर निश्चय ही शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ भी असाधारण होगी।

यहाँ मैं उन प्राचीन लेखको की सहृदयता के सम्बन्ध मे कह रहा था। उस दृष्टि से आज के हमारे साहित्यिक की दृष्टि मे अधिक विकास नही हुआ है। उस का एक कारण यह भी दिखाई देता है कि आज का साहित्यकार पहले की अपेक्षा अधिक व्यावसायिक हो गया है। पहले के लेखको मे साहित्य व्यापार नही था, वह था शुद्ध ध्येय। उस मे हिन्दी साहित्य के हित की भावना थी। इसी कारण उस एक ध्येय के लोग मिलते ही एक-दूसरे के समीप आ जाते थे, जबकि आज वैसी दृष्टि नही है। उस समय कोई भी लेखक न तो अपने लिखने का पुरस्कार माँगता था, न वैसी प्रथा ही थी। आज बिना पुरस्कार के लिखना हीनता का द्योतक है। सुना है, प्रसाद जी ने अपनी किसी पुस्तक पर पारिश्रमिक नही लिया, या लेने के लिए प्रयत्न नही किया। वह उन का घोर रूप से परमार्थवादी व्यापार था। किन्तु आज यह सम्भव नही है। आज लेखक का दृष्टिबिन्दु बदल गया है।"

मित्र ने पूछा—तो क्या आप इसे बुरा समझते हैं?

मैंने उत्तर दिया—दृष्टिबिन्दु तो आवश्यकतावश बदला है न। इसे बुरा कैसे कहा जा सकता है। जो पहले गौण था, वह मुख्य हो गया। आज पचासो ऐसे व्यक्ति है, जिन का व्यवसाय लेखन है और जिन का नही है उन्होने भी उसकी गौणता को मुख्यता दे दी है। यही कारण है कि व्यवसाय बन जाने पर दुकानदार की तरह लेखक को भी प्रत्यक्षवादी यथार्थप्रिय बन जाना पडा है। जैसे बाजार मे एक दुकानदार का दूसरे दुकानदार के प्रति है। यही सबसे बडा भेद मैं प्राचीन और नवीन साहित्यिक मे मानता हूँ और व्यवसाय बन जाने पर यह नही कहा जा सकता कि सभी लेखक प्रतिभा के बल या किसी साहित्य की हित-भावना से उस मे आए है। कई ऐसे भी हो सकते है, जिन्होने विवशता या केवल बाह्य प्रेरणा से इस पेशे को स्वीकार किया है। अत उन के द्वारा निर्मित साहित्य का मूल्य भी हमे उसी दृष्टि से निर्धारण करना होगा। वहाँ तो साहित्य-सृजन एक आवश्यकता हो जाती है। और आवश्यकता (लेखक की ही) का महत्व शारीरिक अधिक हो जाता है—अर्थात् उस की दृष्टि प्रत्यक्षवादी और अर्थपरक बन जाती है। कदाचित् इसीलिए इतना

कुछ लिख जाने पर भी उसका स्थायित्व और मूल्याकन शून्य है।

"मै मानता हूँ, जब लिखना बाजारू धन्धा बन गया है, तब उसमे अलोकिकता की आशा भी कैसे की जा सकती है। लिखने के लिए लिखना पेट के लिए दुकानदारी या क्लर्की करने से किसी प्रकार भी कम कैसे माना जा सकता है। जो लोग ढर की-ढेर पुस्तको को साहित्य मानते हैं या पुस्तको की बहुत सख्या को उस जाति का साहित्य स्वीकार करके चलते है उन की दृष्टि मे तो हमारे यहाँ का प्रेसोत्पादित सभी कुछ साहित्य है और हमे मानना चाहिए कि निरन्तर बडी तेजी से हिन्दी मे ऐसा साहित्य निर्माण हो रहा है। इन पिछले दो एक वर्षों मे दो-एक बाते नई देखने मे आई। एक नए कवि महोदय ने भूमिका लिखवाइ और स्वय उसमे दो-एक पैरे अपनी प्रशसा के जोड दिए। एक सज्जन ने अपने प्रथम प्रयास के रूप एक पद्य नाटक मेरे देखने के लिए भेजा। मैने यथाशक्ति उसका सशोधन तथा अन्य सुझाव लिख भेजे। उक्त सज्जन ने उस नाटक को प्रकाशित करने के बाद न तो आभार स्वीकार किया, न उल्लेख। केवल पुस्तक छपने पर भेंट-स्वरूप यह लिख भेजा—श्रद्धेय भट्ट जी को, जिनकी कृतियो ने गीति-नाट्य लिखने की प्रेरणा दी है" इस के साथ ही—'आशा है, शीघ्र ही सम्मति मिलेगी।' ये वाक्य एक चिट पर लिख भेजे। मै हैरान हूँ, इतना लिखने की भी क्या आवश्यकता थी। प्राय प्रतिदिन किसी-न-किसी चीज़ पर भूमिका लिखने या सम्मति देने का आग्रह मिलता है। यदि आप उन के मनोनुकूल नही लिखते, तो आप न केवल नवीन साहित्यिको के उदय मे बाधक हैं, बल्कि प्रतिगामी, पुरातनपथी भी हैं, जिन का समय कभी का बीत चुका है।"

मित्र ने पूछा—"तब तो आप स्वय मानते है कि नवीन और प्राचीन साहित्यकारो मे दृष्टिकोण का जो भेद है, वह परिस्थिति और ध्येय-भेद से है फिर आप को आज के साहित्यकार से शिकायत भी क्या हो सकती है?"

मैंने कहा—"मै शिकायत कहाँ कर रहा हूँ। मैने तो एक परिवर्तन बताया है। मुझे आज के साहित्यकार से कोई शिकायत नही हैं। किन्तु मैं उस से साहित्यकारो मे पारस्परिक सद्भावना की आशा तो कर सकता हूँ, जिस के बिना हमारे साहित्य का ध्येय भी अधूरा रह जाता है। इतने पर भी मैं मानता हूँ कि आज के हिन्दी के लेखक का दृष्टिकाण पहले की अपेक्षा ज्ञान की दृष्टि से अधिक व्यापक हो गया है। वैसा होना स्वाभाविक भी है। फिर भी यह बात नही भूलनी चाहिए कि प्राचीन और नवीन साहित्यकारो मे मौलिक भेद है। प्राचीन साहित्यकार भाषा शैली और अभिव्यक्ति की नीव रख रहा था, जबकि आज का साहित्यकार उस पर प्रासाद बना रहा है। प्रासाद से मेरा तात्पर्य बुजुआ साहित्य से नही है, किन्तु सृजन से है। और अब हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकार किए जाने पर, मैं विश्वास करता हूँ, सब प्रान्तो की ओर से इस को वैविध्य प्राप्त होगा। मैं तब ही हिन्दी को सम्पूर्ण देश का

प्रतिनिधित्व करने की शक्ति मानूँगा ।"

मित्र साग्रह पूछ बैठे—"उस अवस्था मे तो सब प्रान्तो के लेखको द्वारा नए नए शब्द, नई-नई वाक्यावलियाँ और अभिव्यक्तियाँ आएँगी। तो क्या इससे भाषा मे गडबडी पडने की सम्भावना नही है ?"

मै ने उत्तर दिया—"जहा तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, मुझे उन के हिन्दी मे समा जाने पर कोई आपत्ति नही है, किन्तु प्रान्तीय शब्दो के अधिक सख्या मे आ जाने पर भाषा का रूप विकृत और दुरूह हो जाएगा। मान लो, दक्षिण भारत के लोगो ने नए शब्द गढकर भाषा मे युक्त किए, तो एक तो वे सब जगह समझे नही जाएँगे, दूसरे वे प्रान्तीय होने के कारण प्रचलित नही हो सकेंगे। भाषा मे एक प्रकार की अलहदगी पैदा हो जाएगी। इस सम्बन्ध मे हमे अग्रेजी का अनुकरण करना चाहिए। जैसे ससार-भर मे बोली जाने पर भी अग्रेजी मे एक रूपता लक्षित होती है, उसी तरह हिन्दी मे भी हमे उस की एकरूपता की रक्षा करनी होगी। उसे रूपो की अलहदगी से बचाना होगा। उसे ऐसा रूप देना होगा, जिससे एक तो स्टैण्डर्ड बन सके, दूसरे सब प्रान्तो मे आसानी से समझी जा सके। फिर भी यह मानना होगा, प्राचीन की अपेक्षा आज का साहित्यकार अपने और अपने साहित्य के प्रति अधिक जागरूक है। वह इसलिए कि उस का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। उसे अपने अस्तित्व को जहाँ सुरक्षित रखना है, वहाँ अपने साहित्य को भी। साहित्य को व्यवसाय रूप को ग्रहण कर लेने पर साहित्यकार से और आशा भी नही की जा सकती। फिर भी जीवन का स्रोत जहाँ से प्रवाहित होता है, उन जीवनीय तत्वो को स्वीकार किए बिना कोई कितने दिन तक साहित्यकार बना रह सकता है, यह विचारणीय है। इसीलिए व्यवसाय बन जाने पर भी साहित्य और साहित्यकार को दुनिया से कुछ अलग-अलग रहना ही पडेगा।"